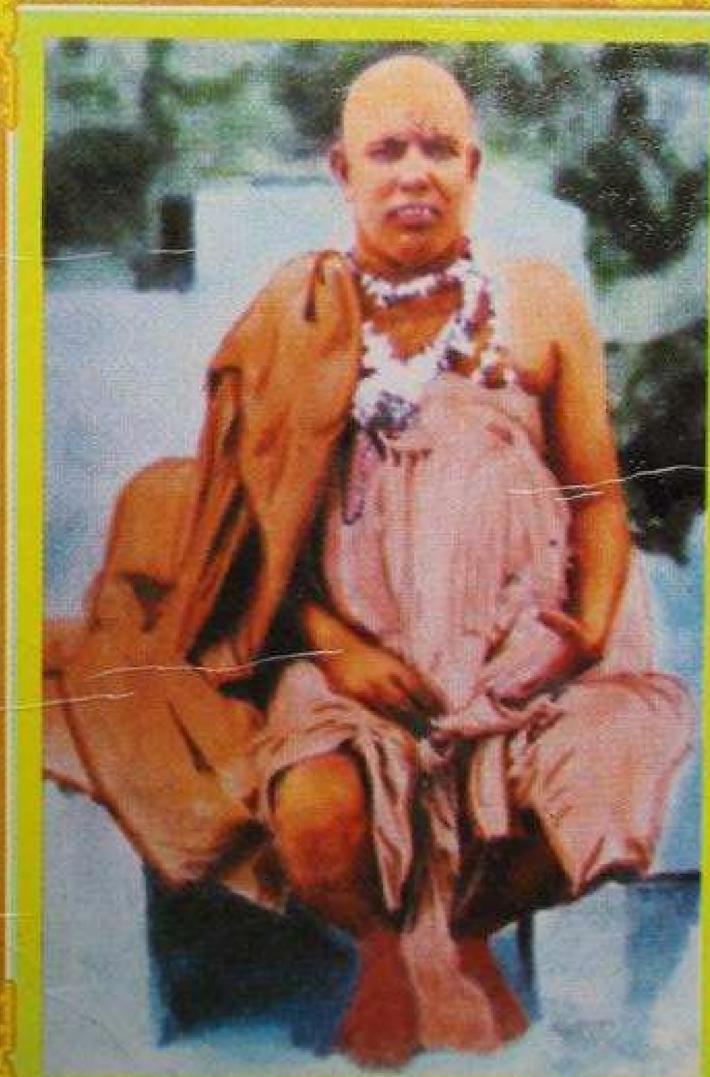


# गीतातत्त्वालोक

परम पूज्यपाद ब्रह्मलीन  
स्वामी श्रीपूर्णानन्दतीर्थ (उड़िया बाबाजी)

श्री  
म  
द्  
भ  
ग  
व  
द्



गी  
ता  
की  
व्या  
ख्या

● संकलयिता ●

स्वामी सिद्धेश्वराश्रम (दण्डिस्वामी सियाराम)

● सम्पादक ●

स्वामी सनातनदेव





# गीतातत्त्वालोक

परम पूज्यपाद ब्रह्मलीन  
स्वामी श्रीपूर्णानन्दतीर्थ (उड़िया बाबाजी) द्वारा  
श्रीमद्भगवद्गीता की व्याख्या



संकलयिता  
स्वामी सिद्धेश्वराश्रम (दण्डिस्वामी सियाराम)

सम्पादक  
स्वामी सनातनदेव



प्रकाशक :

श्रीपूर्णानन्द तीर्थ ( उड़िया बाबा ) ट्रस्ट समिति,  
वृन्दावन

प्राप्ति स्थान

श्रीकृष्णाश्रम, दावानल कुण्ड

वृन्दावन (मथुरा)

संस्करण सन् - २००७ संवत् २०६४

मूल्य : ६५ रुपये मात्र

मुद्रक :

राधा प्रेस

२४६५, मेन रोड, कैलाश नगर, दिल्ली-३१

फोन - ०११ - २२०८३१०७



## कृतज्ञता

श्रीकृष्णार्जुनसङ्ग्रहामृतनिधेर्धीरं गम्भीरं तलं।  
तत्त्वान्वेषण तत्परैरधिगतं कैःकैर्न सद्धीवरैः॥  
किन्तु प्रत्नविचाररत्ननिकरानानीय दाने प्रभुः।  
पूर्णानन्दमृते न कश्चिदिति तं सर्वात्मना संश्रये॥

दण्डिस्वामी श्रीसिद्धेश्वराश्रमजी महाराज चिरकालपर्यन्त पूज्यपाद श्रीपूर्णानन्द तीर्थजी (श्रीउड़ियाबाबाजी) महाराज की सेवा एवं सत्संग में रहकर वेदान्त श्रवण करते रहे हैं। बाबा प्रायः प्रतिदिन प्रातःकाल शंकरानन्दी टीका सहित भगवद्गीता लेकर बैठ जाते और स्वतंत्र रूप से श्लोकों पर नये-नये भाव और विचार प्रकट करते। उनके गम्भीर अनुभव एवं नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से चमत्कारकारी अभिप्रायों का प्रकाश होता। दण्डिस्वामी जी प्रायः ही उन्हें लिख लिया करते। अब वही संग्रह श्री स्वामी सनातन देव जी के द्वारा संशोधित सम्पादित एवं सुव्यवस्थित रूप से प्रकाशित हो रहा है। हम अपने महाराजश्री के तो ऋणी हैं हीं, इन दोनों स्वामियों के भी अत्यन्त कृतज्ञ हैं। इस प्रकाशन से जिज्ञासु जगत् को अनुपम लाभ होगा।

अनेक बार ऐसे प्रसंग आते कि श्री महाराजजी सत्संगियों से पूछ बैठते और फिर स्वयं उसका उत्तर देते। एक बार उन्होंने बताया कि गीता के बारहवें अध्याय का—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

यह श्लोक मुझे बहुत पसन्द है। इस श्लोक का रहस्य बताते हुए उन्होंने कहा था, 'केवल मुझमें ही मन का आधान और बुद्धि का निवेश अन्य में आधान और निवेश का निषेध करने के लिये है। अवधारण रूप 'एव' अर्थात् 'ही' की संगति तब तक नहीं लग सकती जब तक मन और बुद्धि को उनके आश्रय अन्तर्यामि अथवा अधिष्ठान चेतन में स्थिर न किया जाय। अन्य दृश्य अथवा विषय में मन-बुद्धि स्थापित करने से वे



उसको छोड़कर लौट आयेंगे, परन्तु आश्रय में स्थापित करने पर वे उससे अभिन्न हो जायेंगे। मन से आत्म-प्रेम और बुद्धि से आत्म-विचार, क्योंकि प्यार और विचार के अतिरिक्त मन-बुद्धि कोई वस्तु नहीं हैं। 'अत ऊर्ध्वम्' का अर्थ है मन के आधान एवं बुद्धि के निवेश के पश्चात्। अभिप्राय यह कि बुद्धि और मन की उपाधि ही आत्मा को परमात्मा से अलग करती है। अतः इस आधान और निवेश के अनन्तर परमात्मा में ही निवास होगा। अर्थात् प्रत्यगात्मा ब्रह्म से पृथक् नहीं रहेगा। 'अत ऊर्ध्वम्' का अन्वय 'निवेशय' के पश्चात् है। इसको 'निवसिष्यसि' के पश्चात् भी कर लो। इस निवास रूप अभेद के अनन्तर संशय और उसके हेतु अज्ञान का अस्तित्व ही नहीं रहता।

उनके प्रवचनों में नई-नई सूझ-बूझ की बातें रहा करती थीं ब्रह्मनुभूति से परिपूर्ण। वे कोई टीका-टिप्पणी नहीं करते थे। उनके श्रीमुख से जीवन्मुक्त महापुरुष के स्वच्छन्द उद्गार प्रकट होते थे।

हम अपने ही इन दोनों स्वामियों के प्रति पुनः इस कार्य के लिए कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं।

—अखण्डानन्द सरस्वती



## अवतरणिका

आज से प्रायः पचास वर्ष पूर्व की बात है, हृदय में विरक्त जीवन व्यतीत करने की व्यतीत करने की तीव्र लालसा थी। यद्यपि विवाह हो चुका था, प्रायः सत्ताईस वर्ष की आयु थी। तथापि संसारिक जीवन से चित्त उचट चुका था। घरवालों के संस्कार भी अनुकूल थे। संसार में जो साक्षात् ममता की मूर्ति मानी जाती हैं, वे माताजी भी मुझे विरक्त वेश में देखने को उत्सुक थीं। विरक्ति के लिए सबसे अधिक प्रेरणा मुझे उनसे ही मिली थी।

चित्त में श्रीमद्भगवद्गीता पढ़ने का उत्साह हुआ। किन्तु पढ़ाई-लिखाई विशेष हुई नहीं थी। अतः संस्कृत-व्याकरण पढ़ने की दृष्टि से रामघाट की संस्कृत पाठशाला में प्रवेश पाने के लिये गया। वहीं पूज्यपाद श्रीमहाराजजी के दर्शन हुए। समय-समय पर दर्शनार्थ जाता रहा तो परिचय हो गया। एक दिन गंगास्नान को जाते समय मार्ग में बोले, “मैं तुझे ऐसी गीता पढ़ाऊँगा जैसी किसी ने नहीं पढ़ाई होगी।” जब कुटिया पर लौटकर आये तो मैं गीता लेकर सामने बैठ गया। बोले, “क्या है?” मैंने कहा, “आपने गीता पढ़ाने को कहा था।” तब कहा, “इस प्रकार नहीं आवेगी। पहले प्रतिदिन एक अध्याय पढ़कर सुना।” मैं नित्यप्रति एक अध्याय पढ़कर सुनाने लगा। अठारह दिन में पूरी होने पर मैंने कहा, “अब पढ़ाइये।” आप बोले, “इस प्रकार नहीं, पहले पूरी गीता कण्ठस्थ होनी चाहिये।” मैंने कण्ठस्थ कर ली तब बोले, “किसी से शब्दार्थ पढ़कर आओ। तब इसकी व्याख्या मैं सुनाऊँगा। मैंने कहा, “मैं तो किसी को नहीं जानता, कहाँ जाऊँ।” बोले, “लम्बे नारायण स्वामी के पास चला जा।”

मैं उनके पास गया और उन्हें श्रीमहाराजजी का सन्देश सुनाया। वे बोले, “तुमने विचारचन्द्रोदय या विचारसागर पढ़ा है। उन्हें बिना पढ़े तुम गीता क्या समझोगे।” मैं लौट आया। तब श्रीमहाराजजी ने अच्युत मुनिजी के पास जाने को कहा। मैं वहाँ गया। वे पञ्चदशी के पण्डित थे। उन्होंने पहले वही ग्रन्थ पढ़ने को कहा। मैं लौट आया, तब आपने मुझे अनूप शहर में श्रीभोले बाबाजी के शिष्य श्री नेपाली बाबाजी के पास जाकर पढ़ने को कहा। उन्होंने मुझे गीता का शब्दार्थ पढ़ाया। वहाँ से आकर मैंने श्रीमहाराजजी से कहा कि अब सुन लीजिये। वे बोले, “अब क्या सुनना है, बता किस टीका के अनुसार सुनाऊँ।” मैं बोला, “महाराजजी! और टीकाएँ तो हम देखते रहेंगे। हमें तो आपकी टीका सुननी है। अपना अनुभव सुनाइये।”



बस आपने प्रवचन रूप से गीता पढ़ाना आरम्भ कर दिया मैं साथ-साथ लिखने लगा। तब बोले, “अरे! क्या करता है?” मैंने कहा, “महाराजजी! हमारी तुच्छ बुद्धि है। हम भूल जायेंगे, इसलिये लिखता जाता हूँ।” तब बोले, “अच्छा, लिखले।” मैं कभी-कभी लिखने में पिछड़ जाता था। तब अपने सहाध्यायी रामदासजी को संकेत कर देता। वे कोई प्रश्न कर देते। श्रीमहाराजजी उसका उत्तर देने लगते तब मैं अपना कार्य पूरा कर लेता। प्रायः एक वर्ष में गीता पूरी हुई। महाराजजी ने उसे दुबारा आरम्भ कर दिया। इस प्रकार मैंने तीन बार उनके मुख से उनकी सम्पूर्ण व्याख्या सुनकर लिख ली।

मैं इसे छपवाना चाहता था। परन्तु जैसी मैंने लिखी थी वह पुस्तकाकार छपवाने के योग्य नहीं थी। मैंने स्वामी श्रीसनातनदेवजी से उसका सम्पादन करने को कहा। वे देखकर चुप हो गये। फिर कई वर्ष बाद झाँसी में मुझे इनका पत्र मिला और इन्होंने मुझे फिरोजपुर (पंजाब) बुलाया। मैंने जो कुछ लिखा या उसका अंश देखकर इन्होंने कहा, “यह टीका तो उपयोगी हो सकती है। परन्तु मैं इसका सम्पादन तभी करूँगा जब आप प्रकाशन के लिये इसे श्रीमहाराजजी के ट्रस्ट को दे दें।” मैंने स्वीकार कर लिया। अब उन्हीं के द्वारा संशोधित और सम्पादित होकर यह ग्रन्थरत्न जनता के सामने आ रहा है। मेरे लिये तो ब्रह्मलीन श्रीमहाराजजी की यह दिव्य वाणी अमूल्य निधि है। आशा है, अधिकारी लोग इससे अवश्य लाभान्वित होंगे।

कुछ लोगों की दृष्टि इसे या इसका भाषान्तर में अनुवाद कराकर छपवाने और अपना प्रचार या व्यवसाय करने की रही है। इसका दुरुपयोग न हो इसलिये मैं यह सूचित किये देता हूँ कि श्रीपूर्णानन्द तीर्थ (उड़िया बाबा) ट्रस्ट समिति के सिवा और कोई व्यक्ति या संस्था मेरी अनुमति लिये बिना इस रूप में अथवा इसका अनुवाद कराकर छपवाने का प्रयत्न न करें। यदि कोई ऐसा दुःसाहस करेंगे तो उन्हें उसका दुष्परिणाम भोगना पड़ेगा।

—स्वामी सिद्धेश्वराश्रम  
(सियाराम)



## आमुख

भारतीय वाङ्मय में श्रीमद्भगवद्गीता का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि संसार के सार्वभौम साहित्य की दृष्टि से देखें तो भी इसकी गणना सर्व प्रमुख ग्रन्थों में की जा सकती है। संसार में सम्भवतः बाइबिल को छोड़कर और कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं है जिसका इतनी भाषाओं में प्रकाशन और प्रवर्तन हुआ हो। इसके ऊपर भारत की सभी भाषाओं में विचारक और मनीषियों की अगणित व्याख्याएं हैं। फिर भी यह एक नवीन टीका प्रकाशित करने की आवश्यकता अनुभव हुई, यह विषय विचारणीय है। गीता तो एक ही है, किन्तु उसके व्याख्याकारों के वैदुष्य और अनुभव के कारण उसकी टीकाओं का एक विशेष स्थान हो जाता है और उनमें मतभेद भी बहुत है। प्रस्तुत ग्रन्थ के वक्ता परम पूज्यपाद ब्रह्मलीन श्रीउड़िया बाबाजी महाराज अपने समय के एक सर्वमान्य सन्त थे। उनके अनुभव, ब्रह्मनिष्ठा और त्याग-वैराग्य के कारण साधु-समाज में उनका बहुत ऊँचा स्थान था। उनके कथन में एक नवीन ओज और प्रभाव होता था। वे सदा लक्ष्य पर दृष्टि रखकर बोलते थे और थोड़े शब्दों में ही बहुत ऊँची बात कह जाते थे। वे यद्यपि कोई वक्ता, व्याख्याकार या लेखक नहीं थे। तथापि उनमें कुछ ऐसा आकर्षण था कि लोग उनके दर्शन और वाक्य-श्रवण को सर्वदा लालायित रहते थे।

वे सत्संग की दृष्टि से गीता की शंकरानन्दी टीका लेकर प्रातःकाल नित्य ही कुछ प्रवचन किया करते थे। यह प्रवचन कैसे आरम्भ हुआ उसका उल्लेख स्वामी श्री सिद्धेश्वराश्रमजी ने अपनी अवतरणिका में किया है। उस प्रवचन को स्वामीजी, जितना हो सकता, लिख लेते थे। बातें उसमें बहुत महत्त्वपूर्ण और जिज्ञासु साधकों के लिए उपयोगी होती थीं। श्रीमहाराज जी के महाप्रस्थान के पश्चात् इनकी इच्छा हुई कि यह संग्रह ग्रन्थ रूप में प्रकाशित कर दिया जाय। किन्तु जैसा लिखा गया था वैसा तो प्रकाशन के योग्य था नहीं तथापि उसमें जो सामग्री थी उसे देखते हुए उसे प्रकाशित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अतः मुझसे जैसा बना उसका सम्पादन करके जनता के सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ। इसमें भाषा तो मेरी है किन्तु भाव और

























































































































































































































































































































































































































































































































































































































































पुरुष दूसरे देवताओं की उपासना करते हैं। इस मोह में ही उनके अनेकों जन्म बीत जाते हैं। वे मुझे प्राप्त नहीं होते। उन उपासनाओं के भी दो परिणाम होते हैं—इन्द्रादि देवता तो उनकी कामना पूरी कर देते हैं, किन्तु ब्रह्मा विष्णु आदि उन्हें अपना-अपना धाम दे देते हैं।  
**संगति—** यह श्लोक कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करता है तथा आगामी श्लोक उपासना का है।

**यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।**

**तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥**

**भावार्थ—** जो-जो भक्त श्रद्धापूर्वक जिस-जिस देव-विग्रह की पूजा करना चाहता है, उसकी उसी-उसी श्रद्धा को मैं पुष्ट कर देता हूँ [क्योंकि मैं अन्तर्यामी हूँ]।

**स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।**

**लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥**

**भावार्थ—** उस श्रद्धा से युक्त होकर वह उस देवता की उपासना करता है और मेरे द्वारा ही दिये हुए उन भोगों को वह उस देवता से प्राप्त करता है।

**व्याख्या—** तात्पर्य यह कि मैं ही उस देवता में उसका प्रेम कराता हूँ और मैं उसे उसके अभीष्ट फल देता हूँ। किन्तु वे फल नाशवान् ही होते हैं—यही बात भगवान् आगे कहते हैं।

**अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।**

**देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥**

**भावार्थ—** परन्तु उन अल्प बुद्धि वालों का वह फल नाशवान् ही होता है। देवताओं का पूजन करने वाले देवताओं को और मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं।

**व्याख्या—** जहाँ मोक्ष का प्रकरण हो वहाँ 'भक्त' शब्द अर्थ जिज्ञासु करना चाहिये और जहाँ भक्ति का प्रकरण हो वहाँ भक्त। यह श्लोक निष्काम उपासना का प्रतिपादन करता है। भगवान् के दर्शन



से भी भगवान् का तत्त्वज्ञान श्रेष्ठ है और उससे भी प्रेम बड़ा है। यहाँ 'यान्ति मामपि' का भाव है कि मेरे भक्त और सब वस्तुएँ तो प्राप्त करते ही हैं, मुझे भी प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् उन्हें दो गुना लाभ होता है। जैसे एक राजा-रानी का दृष्टान्त है। एक बार एक राजा ने विदेश जाते समय अपनी रानियों से पूछा कि वहाँ से लौटते समय मैं उनके लिए क्या लाऊँ। सभी ने अपनी-अपनी इच्छित वस्तुएँ बतला दीं। किन्तु छोटी रानी ने कुछ भी न माँगकर कहा कि मैं तो कुछ नहीं चाहती, आपको ही चाहती हूँ। राजा ने लौटते समय सब चीजें दोगुनी मात्रा में लीं और उन्हें अलग-अलग बँधवा लिया। जब राजधानी में आया तो सब रानियों को उनकी मँगायी हुई वस्तुएँ भिजवा दीं और शेष आधी वस्तुओं को लेकर स्वयं छोटी रानी के महल में आया। अन्य रानियों ने अपने-अपने महल में चलने को कहा तो उनसे कह दिया कि तुमने जो-जो वस्तुएँ मँगायी थीं वे तुम्हें मिल गयीं, छोटी रानी ने और कुछ न माँगकर मुझे ही माँगा था इसलिये मैं वहीं जाऊँगा। इस प्रकार छोटी रानी को और सब वस्तुएँ तो प्राप्त हुई ही स्वयं राजा भी प्राप्त हुआ। इसी प्रकार जो भगवान् से कुछ न माँगकर निष्काम प्रेम करते हैं उन्हें और सब वस्तुएँ तो मिलती ही हैं, स्वयं भगवान् भी मिल जाते हैं। यही 'मद्भक्ता यान्ति मामपि' का तात्पर्य है। इस श्लोक के एक ही चरण में साधन और साध्य दोनों बता दिये गये हैं। इनमें 'मद्भक्ताः' साधन है और 'यान्ति मामपि' साध्य या फल है।

सम्पूर्ण गीता में भक्ति को ही ज्ञान का साधन बतलाया है क्योंकि सब जगह 'भक्ति' शब्द का 'भक्त्या' यह तृतीयान्त ही प्रयोग है, केवल यहीं 'मद्भक्ताः' ऐसा प्रथमान्त प्रयोग हुआ है। इस प्रकार भक्ति को स्वतन्त्र साधन यहीं माना है। श्रीरामचरितमानस में भी 'भक्ति स्वतन्त्र सकल गुण खानी' कहकर एक जगह ही भक्ति को स्वतन्त्र कहा है।

संगति—अगले श्लोक में भगवान् अपना स्वरूप बतलाते हैं—



अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।  
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥२४॥

भावार्थ—बुद्धिहीन लोग ही मेरे परस्वरूप को न जानने के

कारण सम्पूर्ण प्राणियों के महान् ईश्वर मुझे अव्यक्त को व्यक्त मानते हैं।

व्याख्या— मेरे परभाव अर्थात् शुद्ध स्वरूप को न जानने के

कारण मुझे व्यक्त (साकार) या अव्यक्त (निराकार) मानते हैं, क्योंकि मेरा वास्तविक स्वरूप बुद्धि का अविषय है तथा साकार-निराकार दोनों ही बुद्धिगम्य हैं, वेदान्त की दृष्टि में ये दोनों भाव अध्यस्त और नाशवान् हैं। ईश्वर या आत्मा में देह-देही भाव भी नहीं है, अतः वह ध्यान का विषय भी नहीं है, कहा भी है—‘देहिदेहविभागोऽयमीश्वरे न प्रवर्तते।’

प्रश्न— ‘परंभाव’ का क्या अर्थ है?

उत्तर— जो मन-बुद्धि के विषय हैं वे अपर भाव हैं; जैसे—

देवभाव, जीवभाव, ईश्वरभाव आदि। और जो सब प्रकार के भावों से परे तथा मन-बुद्धि का अविषय है वह परंभाव है। व्यक्त-अव्यक्त दोनों को एक सत्ता में लाकर परमार्थ वस्तु को दोनों से ही विलक्षण, देखना परभाव है।

जो लोग भगवान् के साकार और निराकार रूपों को अलग-अलग मानते हैं वे भी बुद्धिहीन हैं क्योंकि जैसे पत्थर ही मूर्ति है उसी प्रकार निराकार ही साकार है। हनुमानजी की मूर्ति को भक्त तो हनुमानजी मानते हैं, किन्तु आर्यसमाजी पत्थर ही कहते हैं तथा विचारवान् पत्थर में हनुमानजी और हनुमानजी में पत्थर देखते हैं। ‘अबुद्धि’ का तात्पर्य बुद्धिहीन नहीं अपितु विवेकहीन है। अध्याय ९ श्लोक ११ में जो ‘परं भावमजानन्तो’ आया है उसका भी यही आशय है।

संगति— श्लोक २१ से भक्ति का प्रसंग चल रहा है। अब अगले

श्लोक में भगवान् यह बतलाते हैं कि लोग मुझे क्यों नहीं जानते—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥२५॥



भावार्थ—अपनी योगमाया से ढका हुआ मैं सबका प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः मूढ़ लोग मुझ अजन्मा और अविनाशी को नहीं जानते।

व्याख्या— मैं सबके देखने में नहीं आता हूँ। जिस पर ईश्वर, गुरु, शास्त्र और आत्मा की कृपा है वही मुझे देख पाता है। जो इन सबकी कृपा से शून्य है वह मुझे नहीं देख सकता, क्योंकि जो मेरी योगमाया से ढके हुए हैं वे स्वरूप को नहीं जानते, जैसा कि ऊपर श्लोक १४ में भी कहा है।

प्रश्न— आपने जो चार कृपाएँ बतायीं उनका क्या स्वरूप है?

उत्तर—शास्त्र में चार कृपाएँ बतायी हैं—ईश्वरकृपा, शास्त्रकृपा, गुरुकृपा और आत्मकृपा। जो लोग ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा से भगवान् की भक्ति करते हैं भगवान् उन्हें ऐसी बुद्धि देते हैं कि उनके सगुण स्वरूप से उन्हें वैराग्य हो जाता है—यही ईश्वरकृपा है। शास्त्र का तात्पर्य बुद्धि में बैठने लगे—यह शास्त्रकृपा है। योग्य अधिकारी देखकर गुरुदेव स्वीकार कर लें—यह गुरुकृपा है। गुरुदेव जो भी उपेक्ष करें वह समझ में आ जाय तथा ज्ञान का अभिमान न हो—यह आत्मकृपा है।

मायिक वस्तुओं में प्रीति होना ही माया से ढकना है। यहाँ यह कहा है कि मेरे स्वरूप को मूढ़ नहीं जानते इससे सिद्ध होता है कि विवेकी जानते हैं। न जानने का एक कारण यह भी है कि जो कुछ दीखता है वास्तव में है नहीं। आत्मा है, परन्तु वह दीखता नहीं। सारा संसार तथा सगुण व निर्गुण ईश्वर परोक्ष है तथा आत्मा अपरोक्ष है। परन्तु हमारे लिये परोक्ष अपरोक्ष और अपरोक्ष परोक्ष बना हुआ है। जो वस्तु अपने से भिन्न है वह तो वस्तुतः सत्ताशून्य है। जो वस्तु आकाश (अभाव) में होती है, वह आकाश रूप ही है। इसी प्रकार भावदृष्टि में तो भगवान् हैं, परन्तु विचार करने पर तो ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता। प्रकाश जिस प्रकार अंधकार का ही विरोधी है और किसी का नहीं, उसी प्रकार ज्ञान से केवल अज्ञान की निवृत्ति होती है; ज्ञान होने पर भी व्यवहार तो बना ही रहता है। अतः ज्ञान हो जाने



पर भी ईश्वर, जीव और माया आदि सभी व्यवहार पूर्ववत् भासता है, परन्तु उसकी सत्ता अपने से भिन्न नहीं होती। यही वेदान्त है। जो इनका अभाव मानते हैं वे तो नास्तिक हैं, वेदान्ती नहीं। अतः स्वस्वरूप होने के कारण ही तत्त्ववेत्ता को ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि ईश्वर से वियोग न होने के कारण उसे ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा भी नहीं होती। एक कारण यह भी है कि ईश्वर की प्राप्ति जीव को ही होती है, आत्मा को नहीं। इसीसे भगवान् को कोई जान भी नहीं पाता—‘मां तु वेद न कश्चन’।

संगति— अगले श्लोक में इसी की पुष्टि करते हैं—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।

भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥२६॥

भावार्थ— अर्जुन! मैं भूत, भविष्य और वर्तमान को भी जानता हूँ, परन्तु मुझे कोई नहीं जानता।

व्याख्या—प्रश्न—भगवान् ने श्लोक २५ में तो कहा था कि मुझे अविवेकी नहीं जानते। इससे इतना आश्वासन था कि विवेकी तो जानते होंगे। परन्तु यहाँ तो दो ठूक बात कह रहे हैं कि मुझे कोई नहीं जानता। इससे तो बड़ा दोष आता है। यदि कोई नहीं जानता तो क्या उपासना व्यर्थ ही है?

उत्तर— ‘कश्चन’ शब्द का अर्थ यही करना चाहिए कि मेरे भक्तों के अतिरिक्त और कोई नहीं जानता। अथवा शरीर, मन, बुद्धि, प्राण आदि दृश्यमात्र हैं, अतः जड़ होने के कारण ये कोई मुझे नहीं जान सकते।

प्रश्न— भगवान् को कोई भी क्यों नहीं जान सकता?

उत्तर— भगवान् तीनों कालों से परे हैं तथा मनुष्यादि सब काल के अन्तर्गत हैं, क्योंकि जानना तो किसी न किसी काल में ही होता है। अतः काल के अन्तर्गत होने के कारण देहाभिमानी उन्हें कैसे जान सकते हैं। विवेकी देश-कालातीत होता है, इसलिये वही उन्हें



जान सकता है। जब तक 'मैं कुछ हूँ' ऐसा अभिमान रहता है तब तक उन्हें कोई नहीं जान सकते, भले ही वह साक्षात् ब्रह्मा ही हो।

**प्रश्न—** इससे तो यह सिद्ध हुआ कि जिसमें कुछ भी होने का अभिमान है वह आत्मा को नहीं जान सकता। यदि जान लेता तो भगवान् का यह वाक्य कि 'मुझे कोई नहीं जानता' झूठा हो जायगा। भगवान् के कथन से तो यही ध्वनित होता है कि उन्हें कभी किसी ने नहीं जाना।

**उत्तर—** बस, यही अर्थ ठीक है कि भगवान् को किसी ने नहीं जाना। अर्थात् आत्मा का ज्ञान न किसी को हुआ, न है और न होगा। जो चीज जानी जाती है वह तो दृश्य होती है। यदि आत्मा का ज्ञान होगा तो वह भी दृश्य हो जायगा और जीव उसका द्रष्टा होगा। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा का ज्ञान होने की चीज नहीं है, वह अनुभवमात्र है—ऐसा जिसे अनुभव है वही उसे जानता है। अतः संसार में तत्त्ववेत्ता कोई नहीं। 'तत्त्ववेत्ता' यह शब्द ही नहीं बनता, क्योंकि इससे सिद्ध होता है कि एक तत्त्व है और एक उसे जानने वाला है। यदि दो हों तो 'तत्त्ववेत्ता' सिद्ध हो सकता है। किन्तु शास्त्र तो कहता है—

**दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः।**

**यस्तिष्ठति स तु विद्वन् ब्रह्म न ब्रह्मवित्स्वयम्॥**

अर्थात् जो दर्शन (ज्ञान) और अदर्शन (अज्ञान) को त्यागकर स्वयं केवली भाव से स्थित है वह स्वयं ब्रह्म ही है, ब्रह्म को जानने वाला नहीं।

**संगति—** अब न जानने का कारण बतलाते हैं—

**इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।**

**सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥२७॥**

**भावार्थ—** हे शत्रुदमन भरतनन्दन! सृष्टि के आरम्भ से ही इच्छा और द्वेष से होने वाले द्वन्द्व और मोह के द्वारा सम्पूर्ण प्राणी मोह को प्राप्त हो रहे हैं।

**व्याख्या—** संसार में ब्रह्मा से लेकर चींटीपर्यन्त सभी प्राणियों को इच्छा होती है, इसलिए ज्ञान का कोई अधिकारी नहीं है। इच्छा



से राग, राग से द्वेष और द्वेष से मोह होता है। तथा इच्छा पदार्थों में रमणीयत्व, सत्यत्व और सुखत्व-बुद्धि से होती है। अथवा यों समझो कि मुख्य कारण तो इच्छा है, उसका विरोध करने पर द्वेष होता है। इस प्रकार इच्छा और द्वेष का द्वन्द्व होने पर मोह होता है। शब्दादि पाँच विषय और सुख-दुःख ये सात द्वन्द्व हैं। अथवा सुख-दुःख, मान-अपमान और राग-द्वेष इत्यादि ही द्वन्द्व हैं। इनसे ही मोह होता है।

किन्तु तुम्हें मोह नहीं होगा, क्योंकि तुम परन्तप (इन्द्रियरूपी शत्रुओं का दमन करने वाले) हो। यहाँ अर्जुन को 'भारत' और 'परन्तप' दो विशेषण देकर सम्बोधित किया है। अर्थात् तुम भी—ज्ञान में रत और इन्द्रियजित् हो। इसलिये तुम इस मोह में नहीं पड़ोगे और तुम रहस्य जानने के अधिकारी भी हो।

**संगति—** अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि कौन साधक मोहमुक्त रहकर भगवान् का भजन कर सकते हैं—

**येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।**

**ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मा दृढव्रताः॥२८॥**

**भावार्थ—** जिन पुण्यकर्मा लोगों के पाप समाप्त हो चुके हैं वे ही द्वन्द्व और मोह से छूटकर दृढव्रती होकर मुझे भजते हैं।

**व्याख्या—** जगत् की वासनाएँ ही पाप हैं तथा निष्काम कर्मपुण्य है। जिनके पापों का पुण्य कर्मों के द्वारा अन्त हो गया है वे द्वन्द्व और मोह से मुक्त होकर ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् दृढव्रतपूर्वक मुझे भजते हैं। अर्थात् जीवन्मुक्ति के लिये ब्रह्माकारवृत्ति करते हैं, क्योंकि निर्द्वन्द्व भजन तो बोध के पश्चात् ही हो सकता है। ज्ञान होने से पूर्व तो वे जिज्ञासा के कारण तपते रहते हैं।

मोह विचार से दूर होता है और द्वन्द्व ज्ञाननिष्ठा से दूर होते हैं। इसलिये पहले मोह दूर होगा और फिर द्वन्द्व समाप्त होंगे, क्योंकि द्वन्द्वों की उत्पत्ति मोह से ही होती है। द्वन्द्व-मोह से मुक्ति, दृढव्रत और भजन—ये तीनों बातें एक साथ ही होनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि



विवेक होने के पश्चात् जो भजन करता है उसे द्वन्द्व चलायमान नहीं कर सकते क्योंकि विवेक द्वारा उसने अपनी असंगता का अनुभव कर लिया है।

**प्रश्न—** आप ब्रह्माकार वृत्ति की आवृत्ति पर बहुत जोर देते हैं। अतः यह बतलाने की कृपा करें कि वृत्तियों का स्वरूप क्या है तथा ब्रह्माकार वृत्ति किसे कहते हैं?

**उत्तर—** वृत्ति का अपना कोई रूप नहीं है। अपने से पृथक् प्रतीत होता ही उसका स्वभाव है। वह जिस विषय में जाती है उसी का रूप धारण कर लेती है और उसी के अनुसार उसका रूप भी देशकालावच्छिन्न जान पड़ता है। वृत्ति के द्वारा विषय का आवरण भंग होता है। इसे वृत्तिव्याप्ति कहते हैं। और चिदाभास से वस्तु का स्फुरण होता है। इसे फलव्याप्ति कहते हैं। किन्तु यह नियम इदंरूप (प्रत्यक्ष रूप) से स्फुरित होने वाले पदार्थों के विषय में है। आत्मा तो कोई परिच्छिन्न और परप्रकाश्य पदार्थ नहीं है। अतः जब सब अनात्मवर्ग का निषेध करके वृत्ति अहमर्थ में पहुँचती है तो उसका कोई परिच्छेद न होने के कारण उससे किसी आकार विशेष का स्फुरण नहीं होता। अनात्म-वस्तुओं का निषेध करते-करते जब वृत्ति अभावाकार होती है तो उसे ही श्रुतिप्रतिपादित शुद्ध बुद्धि कहते हैं। उसी के द्वारा गुरु कृपा से बोध होता है। तत्त्वबोध होते ही फिर अनात्म वस्तु कुछ नहीं रहती। फिर तो समुद्र से तरङ्ग, सूर्य से किरण और मृत्तिका से घट-शरावादि के समान उसे कोई भी वस्तु अपने से भिन्न नहीं जान पड़ती।

**प्रश्न—** बोध और बोधवृत्ति में क्या अन्तर है?

**उत्तर—** संसार सत्ताशून्य है— ऐसा अनुभव होना बोध है तथा सत्ताशून्य अनुभव होने पर भी जो उसकी प्रतीति होती है यह बुद्धिवृत्ति है। इस बुद्धिवृत्ति को दूर करने के लिये ही ब्रह्माकार वृत्ति या बोधवृत्ति की आवृत्ति की जाती है।

**प्रश्न—** ब्रह्माकार वृत्ति कैसे करनी चाहिये?



उत्तर— प्रतीति को अपने से अलग देखना ही ब्रह्माकार वृत्ति है। जहाँ अहंवृत्ति के सहित इष्टाकार वृत्ति रहती है वह उपासना है। परन्तु जहाँ केवल अहंवृत्ति है वह बोध है, क्योंकि केवल अहंवृत्ति ही कर्ता के अधीन नहीं होती। इदंवृत्ति कर्ता के अधीन है। देश, काल और वस्तु के साथ अपना कोई सम्बन्ध न हो—यही ब्रह्माकार वृत्ति है। यहाँ से उठकर कहीं अन्यत्र वृत्ति जाय तो वह ब्रह्माकार वृत्ति नहीं। अथवा विवेक-अवस्था में जो अभावाकार वृत्ति है वही ब्रह्माकार-वृत्ति है।

प्रश्न— यदि यह ब्रह्माकार वृत्ति है तो अभावाकार वृत्ति किसे कहेंगे? ब्रह्म तो वृत्ति का अविषय है, वृत्ति से परे है, उसे वृत्ति किस प्रकार ग्रहण करेगी? और यदि ऐसा मानें कि वृत्ति उसे ग्रहण नहीं कर सकती तो उसका ज्ञान कैसे होगा?

उत्तर— अभावाकार वृत्ति से प्रपञ्च सत्ताशून्य भासता है। उससे आवरण भङ्ग हो जाता है। आवरण भङ्ग के पश्चात् स्वयं ही रह जाता है, अतः वही ब्रह्माकार वृत्ति है और उसी से बोध होता है।

प्रश्न— वृत्ति तो कर्ता के अधीन है उससे ज्ञान कैसे होगा?

उत्तर— जब तक अज्ञान है तब तक वृत्ति कर्ता के अधीन है। जब कर्तृत्व-भोक्तृत्व समाप्त हो जाते हैं तो वृत्ति स्वतन्त्र है। जब तक कर्तृत्व-भोक्तृत्व है तभी तक जीवसंज्ञा है, अतः तब तक वृत्ति भी कर्ता के अधीन रहती है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व न रहने पर जो स्वतन्त्र वृत्ति होती है वही ब्रह्माकार वृत्ति है। यह वृत्ति प्रारब्ध समाप्त होने तक रहती है, फिर ब्रह्मस्वरूप हो जाती है। अथवा यों समझो कि जब हम किसी विषय को ग्रहण करते हैं तो वृत्ति विषयाकार होती है। उस समय देह में अहन्ता होती है। किन्तु जब सम्पूर्ण दृश्य को एक सत्ता में देखते हैं तो देह में अहंबुद्धि नहीं रहती, क्योंकि शरीर और कर्ता-भोक्ता भी दृश्य के अन्तर्गत हो जाते हैं तथा अहन्ता देहातीत और कर्तृत्व-भोक्तृत्वशून्य होती है। इसलिये इसको भी ब्रह्माकार वृत्ति ही कहेंगे।



अभावाकार वृत्ति कर्ता के अधीन है, किन्तु ब्रह्माकार वृत्ति कर्ता के अधीन नहीं, क्योंकि वह वृत्ति सार्वभौम अकर्ता-अभोक्ता की है। ब्रह्माकार वृत्ति कर्ता के अधीन नहीं क्योंकि वह स्वयं ब्रह्म है। उस वृत्ति को करने वाला भी ब्रह्म है और उसका विषय भी ब्रह्म है। भेद का द्रष्टा ही कर्ता-भोक्ता होता है। जहाँ द्रष्टा और दृश्य का भेद नहीं रहता वहाँ वह अकर्ता-अभोक्ता होता है। जिस प्रकार ईश्वर की माया ईश्वर से भिन्न नहीं, किन्तु भिन्न जान पड़ती है उसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति ब्रह्म से भिन्न नहीं, किन्तु 'वृत्ति' कहने से भिन्न-सी जान पड़ती है।

**संगति—** अब अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि वे किस लिए भजन करते हैं—

**जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।**

**ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥**

**भावार्थ—** जो लोग जरा-मरणादि दुःखों से छूटने के लिये मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं वे उस ब्रह्म, सम्पूर्ण अध्यात्म तथा सम्पूर्ण कर्म को जान लेते हैं।

**व्याख्या—**जरा-मरण से जन्म, बाल्य, युवा, जरा और मरण—ये पाँचों अवस्थाएँ समझनी चाहिए। इस श्लोक में 'माम्' शब्द सगुण-साकार स्वरूप का ही परामर्श करता है, क्योंकि आगे 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग हुआ है। यदि निर्गुणपरक होता तो 'माम्' शब्द से ही काम चल जाता। यहाँ भगवान् ने केवल भजन से ही ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म की प्राप्ति दिखायी है। इससे जान पड़ता है कि भगवान् के भजन और आश्रय से सभी कुछ मिल जाता है।

**संगति—** भक्तों को भगवान् के सिवा और कुछ जानने की इच्छा नहीं होती—यह बात अगले श्लोक में बतायी जाती है—

**साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।**

**प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥**



**भावार्थ—** जो लोग अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के सहित मुझे जानते हैं, निरन्तर संयत-चित्त रहने के कारण वे प्रयाणकाल में भी मुझे जान ही लेते हैं।

**व्याख्या—** जानना दो प्रकार का है। पहला स्वरूप को जानना और दूसरा सगुण-साकार रूप को जानना। इस श्लोक के पहले चरण में जो 'माम्' शब्द है वह स्व-स्वरूप की ओर संकेत करता है तथा दूसरा 'माम्' सगुण स्वरूप भगवान् का वाचक है। जो अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म को, तीनों गुणों को, तीनों कालों को तथा जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं को अर्थात् सम्पूर्ण त्रिपुटियों को ब्रह्मस्वरूप देखते हैं, वे ही अन्त-काल में ऐसा अनुभव करते हैं कि सम्पूर्ण दृश्य मैं ही हूँ। वे ही युक्तचित्त हैं। यह पहले 'माम्' का अर्थ है। दूसरे 'माम्' का अर्थ स्वयं भगवान् कृष्ण है। इसका तात्पर्य यह है कि जो श्रीकृष्ण को भजते हैं उन्हें ऐसा अनुभव होता है कि सब कुछ मैं ही हूँ। अथवा अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ मैं हूँ—यह पहले 'माम्' का अर्थ है तथा सम्पूर्ण दृश्य मैं हूँ—यह दूसरे 'माम्' का अर्थ है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां  
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे  
ज्ञान-विज्ञान-योगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥७॥





ॐ

श्री परमात्मने नमः  
श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

## अथ अष्टमोऽध्यायः

संगति— पिछले अध्याय के अन्त के श्लोक २९ और ३० में भगवान् ने युक्तचित्त सिद्ध पुरुष के लिए जो सात बातें जानने योग्य बतलायी हैं उन्हीं के अनुसार अगले दो श्लोकों में अर्जुन भगवान् से सात प्रश्न करते हैं।

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।  
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

भावार्थ—अर्जुन बोले—हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है, अधिभूत क्या है और अधिदैव क्या कहलाता है?

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।  
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

भावार्थ—मधुसूदन! इस शरीर में अधियज्ञ कौन और किस प्रकार है तथा नियतात्मा (इन्द्रियनिग्रहवान् अथवा निरन्तर भजन करने वाले पुरुषों) के लिये आप किस प्रकार जानने योग्य हैं?

श्रीभगवान् उवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।  
भूतभावोद्भवकरे विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

भावार्थ—श्रीभगवान् ने कहा—परम अक्षर ब्रह्म है, स्वभाव अध्यात्म है भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाला विसर्ग (श्रौत-स्मार्त यज्ञ) कर्म नाम वाला है।

व्याख्या—ब्रह्म भगवान् को भी कहते हैं, परन्तु यहाँ तो शुद्ध ब्रह्म ही को कहा गया है, क्योंकि—‘ब्रह्म’ शब्द से एक शुद्ध अविनाशी



सत्ता ही सूचित होती है। फिर जैसे एक बीज से वृक्ष, फल आदि होते हैं। वह एक शुद्ध चैतन्य ही उपाधि-भेद से भगवान्, ईश्वर, जीव आदि अनेक नामों से कहा जाता है। सम्पूर्ण रूपों में भी वही है। वही परम अविनाशी है और वह अविनाशी विनाशी नाम रूपों में भी भास रहा है। अर्थात् असत् जड़ दुःख रूप चराचर दृश्य होकर भी वही भास रहा है। किन्तु विचार दृष्टि से सम्पूर्ण भूत क्षर (नाशवान) हैं और स्वस्वरूप साक्षी अक्षर है। पञ्च कोशों का बाध होने पर वही परम अक्षर ब्रह्म रूप से जाना जाता है। परन्तु आनन्दमय कोश के रहने पर भी ज्ञाता और ज्ञेय का भेद रहता है। इस भेद की निवृत्ति आनन्दमय कोश का भी निषेध करने पर होती है। परन्तु वास्तविक त्याग तो त्याग के अभिमान का भी त्याग करने पर होता है। यदि निर्विकल्प समाधि का भी अभिमान रहे तो जीव भाव की निवृत्ति नहीं होती। अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोशों का बाध होने पर भी कर्ता-भोक्तापन रहता है, क्योंकि इनका निषेध करने वाली अविद्यावृत्ति (जीवभाव) है। जब मायावृत्ति से अविद्यावृत्ति का निषेध होता है तो विज्ञानमय कोश का बाध होने पर कर्तापन तो नहीं रहता, किन्तु भोक्तापन रहता है। यह भोक्तापन आनन्दमय कोश का निषेध होने पर निवृत्त होता है, तब स्वरूप-स्थिति होती है।

**प्रश्न—** माया-वृत्ति से तो विज्ञानमय कोश का निषेध होता है फिर आनन्दमय कोश की निवृत्ति किस वृत्ति से होती है तथा कर्ता-भोक्तापन एक ही हैं या भिन्न-भिन्न?

**उत्तर—** कर्ता-भोक्तापन तो एक वृत्ति के दो रूप हैं। रजोगुण की प्रधानता के कारण क्रियात्मक होने पर वह कर्ता कही जाती है तथा सत्त्वगुण की प्रधानता के कारण शान्त एवं संवेदनामयी होने पर उसे ही भोक्ता कहा जाता है। जब क्रिया शान्त हो जाती है तो एकाग्रता होने से आनन्द प्रवाहित होने लगता है। उसमें कोई हलचल नहीं होती, इसलिये कर्तृत्व न रहने पर भी भोक्तृत्व रहता है क्योंकि उस



आनन्द का भोक्ता तो रहता ही है। जब आनन्द का भी निषेध होने पर ब्रह्माकार वृत्ति होती है तब स्वरूपस्थिति कही जाती है।

**प्रश्न—** आनन्द का निषेध करने वाली तो निषेधाकार वृत्ति होगी, उसे ब्रह्माकार वृत्ति क्यों कहते हैं?

**उत्तर—** सबका निषेध करने पर जान पड़ता है कि जिसका निषेध किया है वह सब असत्, जड़ और अनित्य है तथा निषेध करने वाला सत्-चित् और नित्य तत्त्व है। तब गुरुदेव कहते हैं 'तत्त्वमसि' अर्थात् वह तत्त्व ही तू है। तब शिष्य को अनुभव होता है 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ। यही ब्रह्माकार वृत्ति है और यह एक बार ही होती है, बार-बार नहीं। बार-बार तो निषेधाकार वृत्ति ही की जाती है जिसका लक्ष्य जीवन्मुक्ति का विलक्षण सुख है। पञ्चभूत के साक्षी का भेद बना रहता है। इस भेद की निवृत्ति गुरुदेव द्वारा महावाक्य का उपेदश पाने पर ही होती है। अतः उसे ब्रह्माकार वृत्ति कहा जाता है और यही बोधवृत्ति है। इससे सब प्रकार के भेद की निवृत्ति हो जाती है। यह वृत्ति एक बार ही उदित होती है।

स्वभाव का अर्थ है स्वसत्ता। स्व (अपना) भाव (संकल्प) अर्थात् जिसमें अपनेपन की भावना हो। इसी को जीव या अपनी प्रकृति भी कहते हैं। अर्थात् जो वास्तव में तो अपना-आप नहीं है, किन्तु अपना-आप जान पड़ता है। इस प्रकार आत्मा और अनात्मा की एकता हो जाना ही जीवत्व है। तथा इनका अलग-अलग हो जाना ही विवेक है। दूध और जल को अलग-अलग करने वाला जैसे हंस होता है वैसे ही जड़ और चेतन को अलग-अलग करने वाला 'परमहंस' कहलाता है, कपड़े रंगने वाला नहीं। विवेकी ही परमहंस है और विवेक ही अध्यात्म विद्या है।

पञ्चभूतों से शरीर बनता है और शरीर के उद्भव (उत्पत्ति) के लिये विसर्ग (यज्ञादि द्वारा त्याग) किया जाता है। इसी का नाम 'कर्म' है। अर्थात् पहले को बिगाड़ कर नया बनाना ही कर्म है; जैसे नवीन भोजन बनाना, नवीन वस्त्र धारण करना, स्नान करना अथवा



सन्तानोत्पत्ति के लिये यज्ञादि करना। जहाँ भी 'करना' होगा वहाँ कुछ ग्रहण करना और कुछ त्यागना ही होगा। इसी का नाम 'कर्म' है।

**अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।**

**अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥४॥**

**भावार्थ—** हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! शरीरादि नाशवान् पदार्थ ही अधिभूत हैं, पुरुष ही अधिदैव है और इस देह में 'मैं' ही अधियज्ञ हूँ।

**व्याख्या—** यहाँ जीव को ही पुरुष कहा है और वही अधिदैव (बड़ा देवता) है। सबका अन्तर्यामी जो मैं हूँ वही अधियज्ञ है। अर्थात् स्थूल शरीर और विराट् तो अधिभूत है, सूक्ष्म शरीर और हिरण्यगर्भ अधिदैव है तथा कारण शरीर और अन्तर्यामी ईश्वर (अव्याकृत) ही अधियज्ञ है। इनसे पृथक् तुरीय (चौथा) शुद्ध ब्रह्म है; जो इन सबका अधिष्ठान है। अर्जुन को देहधारियों में श्रेष्ठ इसलिये कहा, क्योंकि उसने बहुत बड़ा प्रश्न किया है।

**प्रश्न—** यहाँ तक छः प्रश्नों के उत्तर हो गये अब अगले श्लोक में सातवें प्रश्न का उत्तर देते हैं—

**अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।**

**यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥५॥**

**भावार्थ—** तथा जो अन्तकाल में मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है वह मेरे भाव को ही प्राप्त होता है—इसमें सन्देह नहीं।

**व्याख्या—** इसी प्रकार जो संसार का चिन्तन करते हुए शरीर छोड़ते हैं उन्हें संसार की प्राप्ति होती है। अध्याय ७ श्लोक २३ के अनुसार जो जिसका चिन्तन करते हैं उन्हें उसी की प्राप्ति होती है। इस श्लोक में जो 'मद्भाव' शब्द है उसका अर्थ 'ब्रह्मभाव' नहीं है, क्योंकि शुद्ध-ब्रह्म भाव की वस्तु नहीं है। भाव या चिन्तन तो सगुण का ही होता है। अतः भगवान् कहते हैं कि मेरा चिन्तन करने वाले भृङ्ग-कीट न्याय से मेरे स्वरूप को ही प्राप्त होते हैं।



संगति— इसी की पुष्टि अगला श्लोक करता है—  
 यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।  
 तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥६॥

भावार्थ— हे कुन्तीपुत्र! पुरुष अन्तकाल में जिस-जिस भी भाव का स्मरण करते हुए [ अर्थात् जिस वासना को भी लेकर ] शरीर छोड़ता है उसी भाव में भक्ति होने के कारण उसी को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— मरणकाल में उसी क्षण किसी वस्तु का विशेष चिन्तन करने से वासनावश वही सामने आ जाती है, जैसे विद्युत-केन्द्र में सञ्चित विद्युत हजारों मील से बटन दबाते ही तत्काल आ जाती है।

प्रश्न— क्या जिसमें हमारा राग अधिक है हम मर कर वही हो जाते हैं?

उत्तर— हाँ, जिसमें हमारा राग होता है उसी की हमें प्राप्ति होती है। परन्तु यदि राग पूर्ण हो तो आकृष्ट करके उसे भी अपने अनुरूप बनाया जा सकता है; जैसे उच्चकोटि के भक्तगण जिस रूप में भगवान् की भावना करते हैं उसी रूप में भगवान् उनके सामने प्रकट हो जाते हैं।

प्रश्न— राग क्या है और उसकी निवृत्ति कैसे होती है?

उत्तर— परिणाम को न सोचकर किसी भी वस्तु या व्यक्ति में सुख की लालसा से अत्यन्त आकृष्ट हो जाना ही राग है। संसार में मुख्य रोग यही है। इसीके कारण मनुष्य में अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इस राग की निवृत्ति भी राग से ही होती है। यदि श्री भगवान् में राग (प्रेम) हो जाय तो स्वयं ही संसार का राग निवृत्त हो जाता है।

प्रश्न— क्या भक्त और ज्ञानी में भी राग-द्वेष रहते हैं?

उत्तर— जो भक्त भगवत्प्रेम में मग्न रहते हैं उनकी सांसारिक वस्तुओं में उपेक्षा रहती है। संसार की उन्नति या अवनति की ओर उनकी दृष्टि ही नहीं जाती। वे तो निरन्तर भगवत्प्रेम में मस्त रहते हैं।



संसार में उनका न राग होता है न द्वेष। वे दुःख को भी भगवान् की देन ही मानते हैं और उसे प्रसन्नता से सहन करते हैं। उनका भोजनादि व्यवहार भी भगवत्प्रेम के लिए ही होता है।

ज्ञानी में तो राग-द्वेष की सत्ता ही नहीं रहती, क्योंकि जहाँ अहन्ता-ममता रहती हैं वहीं राग-द्वेष रहते हैं। जब अहन्ता-ममता नहीं तो राग-द्वेष कैसे रहेंगे। जिसमें राग-द्वेष हों उस ज्ञानी को तो दूर से ही नमस्कार करो। राग-द्वेष का सर्वथा अभाव तो ज्ञानी में ही होता है। किन्तु आजकल तो राग-द्वेष को रखते हुए भी लोग ज्ञानी बने रहते हैं। राग-द्वेष तीन प्रकार के होते हैं। उनकी उपमा तीन प्रकार की लकीरों से दी जाती है; जैसे— पत्थर की लकीर, बालू की लकीर और पानी की लकीर। संसारी मनुष्यों के राग-द्वेष पत्थर की लकीर के समान होते हैं। वे जन्मभर दूर नहीं होते। उपासकों के राग-द्वेष बालू की लकीर की भाँति होते हैं; जब प्रेम की आँधी चलती है तो वह लकीर मिट जाती है। तथा ब्रह्मवेत्ता के राग-द्वेष पानी की लकीर के समान होते हैं। पानी की लकीर तो उसी समय मिट जाती है। इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता का राग-द्वेष तो दूसरे क्षण तक भी नहीं ठहरता।

**प्रश्न—** सुना है राग-द्वेष तो मन के धर्म हैं, इसलिए यह आवश्यक नहीं कि ज्ञानी के राग-द्वेष निवृत्त हो ही जायँ।

**उत्तर—** 'राग-द्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन' इस वाक्य का तात्पर्य है कि मन तुमसे पृथक् है। किन्तु यदि उसकी पृथक्ता का ठीक-ठीक अनुभव हो तो मन निःसत्त्व हो जायगा। तब तो उसमें राग-द्वेष होंगे ही नहीं। ये तो अविवेक से ही होते हैं। राग-द्वेष तो न भक्त को होते हैं न ज्ञानी को। भक्त प्रत्येक विधान में भगवान् का हाथ देखता है और ज्ञानी उसे प्रारब्ध भोग समझता है। इसलिये दोनों ही में राग-द्वेष की सत्ता नहीं होती है।

**प्रश्न—** राग-द्वेष की निवृत्ति का उपाय क्या है? क्या विवेक से ही इनकी निवृत्ति हो जाती है?



उत्तर— राग-द्वेष की सर्वथा निवृत्ति केवल विवेक से नहीं होती। विवेक से तो राग-द्वेष-निवृत्ति की कुञ्जी मिलती है। इनकी पूर्ण निवृत्ति तो भगवत्प्रेम या आत्मरति से ही होती है। परन्तु द्वेष को जीतना उतना कठिन नहीं जितना राग को जीतना है। निन्दा को जीतना उतना कठिन नहीं है जितना स्तुति को जीतना है। स्तुति भी सामने की जीतनी उतनी कठिन नहीं जितनी पीछे की कठिन है। कोई हमारी स्तुति कर रहा है और हम आ गये। तब उसको सुनकर सावधान रहना कठिन है। इनको जीतने का उपाय अपने इष्ट में प्रीति होने के सिवा और कोई नहीं है। राग-द्वेष से बुरा और कुछ नहीं है। यह वास्तविकता का ज्ञान भी नहीं होने देते। जिसमें हमारा राग होता है उसके दोष भी गुण दिखायी देते हैं और जिसमें द्वेष होता है उसके गुणों में भी दोषों का भास होता है। इस प्रकार इनके कारण गुण अवगुण और गुण दिखायी देने लगते हैं। अतः इनसे निस्तार पाने के लिये हमें निरन्तर भगवत्प्रेम या आत्मनिष्ठा को बढ़ाने का ही प्रयत्न करना चाहिए। यही बात अगले श्लोक से कही जाती है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥

भावार्थ— अतः हर समय निरन्तर मेरा ही स्मरण करो और युद्ध करो। मन और बुद्धि को मुझमें अर्पित कर देने पर तुम निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होगे।

व्याख्या— प्रश्न— भक्त तो काम करते हुए भगवान् का स्मरण कर सकता है, परन्तु ज्ञानी किस प्रकार चिन्तन करता है? क्या वह असङ्ग वृत्ति करता रहता है?

उत्तर— बोधवान् असङ्ग वृत्ति नहीं करता, क्योंकि असंगता का तो उसने पहले ही अनुभव कर लिया है। अतः बार-बार उसे करने की आवश्यकता नहीं है। उसे तो यही दृढ़ अनुभव रहना चाहिए कि सम्पूर्ण प्रपञ्च और उसका व्यापार मुझसे भिन्न नहीं है, सब मेरी ही दृष्टि का विलास है।



**प्रश्न—** मन और बुद्धि का अर्पण क्या है?

**उत्तर—** यह निश्चय कर लेना कि मेरा इष्ट यही है—बुद्धि का अर्पण है और हर समय इष्ट का ही चिन्तन करना मन का अर्पण है।

**संगति—** अगले श्लोक में इसी की पुष्टि करते हैं तथा अपनी प्राप्ति का साधन भी बतलाते हैं।

**अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।**

**परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥८॥**

**भावार्थ—** हे पार्थ! साधक अभ्यास और योग से युक्त कहीं अन्यत्र न जाने वाले निश्चल चित्त से मेरा निरन्तर चिन्तन करता हुआ परम दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है।

**व्याख्या—** किसी एक काम को लगन के साथ बार-बार करना ही अभ्यास है। अभ्यास से बड़े-बड़े दोषों का भी सुधार हो जाता है, अतः निश्चल चित्त से अव्यभिचारिणी भक्ति करे। ऐसा नहीं कि दो माला एक मन्त्र की जपी और दो दूसरे की। निरन्तर एक ही प्रकार का चिन्तन होना चाहिये। अभ्यास और योगयुक्त चित्त से लगातार अनुचिन्तन होने पर ही परम पुरुष की प्राप्ति होती है। इस श्लोक में अभ्यास पर बहुत जोर दिया है। इसके लिए तीन बातें कही गयी हैं—‘योगयुक्तेन’, ‘नान्यगामिना’ और ‘अनुचिन्तयन्’।

‘दिव्य पुरुष’ शब्द से यहाँ सगुण, निर्गुण और शुद्ध तीनों ब्रह्म लिये जा सकते हैं। अपनी-अपनी निष्ठा के अनुसार तीनों ही दिव्य हैं। यदि कोई एक को परम पुरुष मानता है और अन्य को भावनामात्र समझता है तो यह उसकी भूल ही है। स्वप्न की सृष्टि में जड़-चेतन या सत्य-असत्य में तात्त्विक भेद नहीं होता, सब स्वप्न द्रष्टा का ही दृष्टि-विलास होता है। या तो सभी दिव्य हैं या सभी भावनामात्र हैं।

यह श्लोक किसी मत का बाधक नहीं है। अगले श्लोक में इस परम पुरुष का लक्षण बतलाते हैं—



कविं पुराणमनुशासितार—

मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप—

मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥९॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन

भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्

स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥१०॥

भावार्थ— जो पुरुष प्राण-प्रयाण के समय प्राणों को भले प्रकार भ्रूमध्य में स्थापित कर भक्तिपूर्वक और योगबल से एकाग्र मन से उस कवि (सर्वज्ञ), पुरातन, सबके अनुशासक, अणु से भी अणु सबको धारण करने वाले, अचिन्त्य रूप, सूर्य के समान प्रकाशस्वरूप और अज्ञानान्धकार से अतीत परम पुरुष का निरन्तर स्मरण करता है, वह उस दिव्य पुरुष की ही प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या— कवि-सब ओर से देखने वाला अथवा प्राणिमात्र के हृदय में विराजमान होकर उनके शुभाशुभ कर्मों को जानने वाला। पुराण-सबका आदिकारण। अनुशासिता-सबका अनुशासन करने वाला, जिसके भय से सूर्य चन्द्रमा आदि भी अपने-अपने व्यापारों में लगे हुए हैं तथा सब के शुभाशुभ कर्मों का फल देने वाला है। अणोरणीयान्—इसके साथ 'महतो महीयान्'—भी समझना चाहिए। अर्थात् जो अणु से अणु और महान् से महान् है। धाता-सबका धारण-पोषण करने वाला। अचिन्त्यरूप—निर्विशेष होने के कारण जिसके स्वरूप का चिन्तन नहीं हो सकता। आदित्यवर्ण-सूर्य के-से वर्णवाला, अर्थात् प्रकाश स्वरूप। तमसः परस्तात्—अन्धकार या अज्ञान से परे। भगवान् अचिन्त्य क्यों है? क्योंकि चिन्तन भाव या अभाव का हो सकता है और वे इन दोनों के आधार हैं, इसलिये अचिन्त्य हैं, किन्तु सगुण रूप में वे चिन्त्य भी हैं। श्री गोसाई जी कहते हैं—



अगुण अनाम अलेख एक रस। राम सगुन भये भगत प्रेम वस॥

उस परम पुरुष का जो स्मरण करता है तथा अन्तकाल में योग बल से इन्द्रियों को वश में करके भोहों के बीच में प्राणों को भले प्रकार स्थित करके निश्चल मन से ध्यान करता है वह उसी को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार का चिन्तन वही कर सकता है जिसने प्राण, बुद्धि को अपने अधीन कर लिया है।

**प्रश्न—** भ्रूमध्य में प्राण रोकने का क्या आशय है?

**उत्तर—** यह चित्त को एकाग्र करने की एक प्रक्रिया है। प्राण को रोक कर तो सभी बैठ सकते हैं। परन्तु यहाँ भक्ति-समन्वित योग का वर्णन है। दीर्घकाल से अभ्यास करने वाले का प्राण तो सिद्धासन लगाकर बैठने से ही सुषुम्ना में चला जाता है। उसके पूर्व और पश्चिम दो मार्ग हैं। पश्चिम मार्ग में वायु खुल जाने से तीव्र वैराग्य की जागृति होती है और फिर षट्चक्र भेदन करे समाधि की प्राप्ति होती है। किन्तु पूर्व मार्ग में वायु खुलने से वैराग्य ढीला पड़ जाता है। परमार्थ के तीन मार्ग हैं—योग, भक्ति और ज्ञान। किसी में ये तीनों मार्ग पाये जाते हैं, किन्हीं में दो और किन्हीं में एक ही मार्ग खुलता है।

**संगति—** उपर्युक्त श्लोकों में भक्ति और योग दो मार्गों का वर्णन हुआ है। अब अगले श्लोक में ज्ञान का वर्णन है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति

विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति

तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥११॥

**भावार्थ—** वेद को जानने वाले जिसे अक्षर (अविनाशी) ब्रह्म कहते हैं वीतरागी यति जिसमें अभेद भाव से प्रवेश करते हैं, और जिसकी प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस पद का मैं तुमसे संक्षेप में वर्णन करूँगा।



**व्याख्या—** 'वीतरागा विशन्ति' अर्थात् निरन्तर अभ्यासी और वैराग्यवान् ही उस परम पुरुष में प्रवेश पा सकते हैं। ब्रह्मचर्य का आचरण इसलिए करते हैं जिससे उस परम पद को ग्रहण करने की शक्ति बनी रहे।

**संगति—** अब हठयोगी के प्राण त्याग की प्रक्रिया बतलाते हैं—  
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।

मूर्ध्न्याध्यायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।

यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

**भावार्थ—** जो सम्पूर्ण इन्द्रिय-द्वारों को रोक कर, मन को हृदय में स्थापित कर, प्राणों को मूर्धा में ठहरा कर तथा योग-धारणा में स्थित होकर ॐ इस एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करते तथा मेरा निरन्तर स्मरण करते हुए देह को त्याग कर जाता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** यह प्रक्रिया उनके लिये है जो योग-मार्ग से देहत्याग करते हैं। यहाँ मन, प्राण और शरीर का निरोध बतलाया है। इसमें ध्यान योग की ही प्रधानता है। 'व्याहरन्'—बोलते हुए और 'अनुस्मरन्'—निरन्तर स्मरण करते हुए—इन दोनों शब्दों का प्रयोग होने से जान पड़ता है कि वह जप और ध्यान दोनों करता है।

**प्रश्न—** क्या जप और ध्यान दोनों एक साथ हो सकते हैं?

**उत्तर—** हाँ, जैसे हम तुमको देख भी रहे हैं और बातें भी कर रहे हैं।

**संगति—** यहाँ योग का विषय समाप्त हुआ। यह बहुत कठिन मार्ग है। अब आगे भगवान् सुगम मार्ग बतलायेंगे।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥



**भावार्थ—** हे पार्थ! जो पुरुष अनन्यचित्त से मेरा निरन्तर स्मरण करता है उस नित्ययुक्त योगी को मैं सुलभ हूँ।

**व्याख्या—** अनन्यचित्त का भाव है एकनिष्ठ होकर अथवा सच्चिदानन्द से भिन्न अन्य सत्ता का अभाव देखते हुए। 'सुलभ' शब्द गीता में यहाँ के सिवाय और कहीं नहीं आया। इससे सिद्ध होता है कि भगवान् को सुलभता से प्राप्त करने का एकमात्र साधन नित्य निरन्तर अभेद भाव से भजन करना ही है।

**संगति—** अगले श्लोक में इसकी फल-प्राप्ति बतलाते हैं—

**मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयशाश्वतम्।**

**नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥१५॥**

**भावार्थ—** मुझे प्राप्त होकर वे महात्मा दुःखालय और अनित्य संसार में पुनः जन्म ग्रहण नहीं करते, क्योंकि वे परमा सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त हो जाते हैं।

**व्याख्या—** जो दैवी सम्पत्ति सम्पन्न होते हैं वे ही महात्मा कहे जाते हैं। दैवी सम्पत्ति के आश्रय से ही वे मुझे प्राप्त करते हैं। ऐसे महापुरुष पुनः जन्म नहीं लेते, क्योंकि वे वासनाशून्य होते हैं। 'महात्मा' शब्द अध्याय ७ श्लोक १९ में, अध्याय ९ श्लोक १३ में और अध्याय ११ श्लोक ३७ में भी आया है। वहाँ इसका प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है। जन्म न होना सिद्धि है और मुझे प्राप्त हो जाना परम सिद्धि है। दुःखालय और अशाश्वत शब्दों से व्यक्त होता है कि वे मर्त्यलोक में नहीं आते, तो ऐसी शङ्का हो सकती थी कि यदि इस लोक में नहीं आते तो अन्य लोकों में घूमते रहते होंगे। इसी का निवारण भगवान् अगले श्लोक में करते हैं—

**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।**

**मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥१६॥**

**भावार्थ—** हे अर्जुन! ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी लोकों से पुनः लौटना पड़ता है। किन्तु हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त होकर पुनः जन्म नहीं होता।



**व्याख्या—** इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में सकाम भक्ति का फल दिखाया है और उत्तरार्द्ध में निष्काम भक्ति का। यदि लोकादि की भावना रहेगी तो अन्त में लौटना ही पड़ेगा, चाहे कितना ही समय लग जाय। किन्तु तत्त्वज्ञान या भगत्वप्राप्ति होने पर नहीं लौटना पड़ता। निष्काम भक्ति ज्ञानी में ही हो सकती है। ज्ञान से पूर्व जो निष्काम कर्म या निष्काम उपासना की जाती है वह वास्तविक नहीं होती। उनमें तो निष्कामता का भाव ही रहता है। ज्ञान होने पर जब सब कुछ अपना या भगवान् का स्वरूप ही हो जाता है तब कुछ भी अप्राप्त नहीं रहता। और जिसे कुछ भी अप्राप्त नहीं है वह कामना किसकी करेगा?

**संगति—** अगले श्लोक में ब्रह्मा के दिन-रात्रि का परिमाण बताते हैं—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्षद्ब्रह्मणो विदुः।

रात्रिं युगसहस्रान्तं तेऽहोरात्रविदो जनाः॥१७॥

**भावार्थ—** जो लोग एक सहस्र युगपर्यन्त ब्रह्मा का दिन और [इतनी ही] रात्रि जानते हैं वे ही दिन-रात्रि को जानने वाले हैं।

**संगति—** अगले श्लोक में सृष्टि के उत्पत्ति और प्रलय बतलाते हैं—

अव्यक्तादव्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥१८॥

**भावार्थ—** सम्पूर्ण व्यक्त ब्रह्मा का दिन आने पर अव्यक्त (प्रकृति) से उत्पन्न हो जाते हैं। तथा रात्रि आने पर सब उस (माया) में लीन हो जाते हैं।

**व्याख्या—** जो वस्तु अभाव से उत्पन्न होती है वह वास्तव में होती नहीं, क्योंकि वह अभावरूप ही होती है। वेदान्त में ब्रह्मा के अज्ञान या अपने स्वरूप को न जानने से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानी गयी है। अतः वह वास्तव में है नहीं। यद्यपि शुद्ध ब्रह्म, ईश्वर और माया तीनों ही 'अव्यक्त' कहलाते हैं। परन्तु यहाँ तो इसका अर्थ 'माया' ही



है। माया, कारण, प्रकृति अव्याकृत, अविद्या और अज्ञान—ये सभी शब्द पर्यायवाची हैं।

**संगति—**यही भाव अगले श्लोक में अधिक स्पष्ट किया गया है—  
**भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।**  
**रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥१९॥**

**भावार्थ—** हे पार्थ! यह भूत-समुदाय से उत्पन्न हो-होकर रात्रि आने पर विवश-सा होकर उसी में लीन हो जाता है। तथा दिन आने पर पुनः उत्पन्न हो जाता है।

**व्याख्या— प्रश्न—** सोलहवें श्लोक पर्यन्त मुक्ति का प्रसंग चला आ रहा था। फिर बीच में ब्रह्मा के दिन आदि का व्यर्थ वर्णन क्यों करने लगे?

**उत्तर—** यह वर्णन इसलिये किया गया है कि जब इतनी बड़ी आयु वाला ब्रह्मा भी अन्त में लीन हो ही जाता है तो हम जैसे क्षुद्र मनुष्यों की तो बात ही क्या है। इस प्रकार वैराग्य बढ़ाने के लिये ही ये बीच के वर्णन किये गये हैं, क्योंकि संसार से वैराग्य होने पर ही भगवान् में अनुराग होता है। इसीसे अठारहवें श्लोक में अव्यक्त से ही संसार की उत्पत्ति बतायी है। 'अव्यक्त' का अर्थ ब्रह्म भी है, परन्तु यहाँ तो माया ही समझना चाहिये। माया से उत्पन्न होना ऐसा ही है जैसे आकाश से बादलों का उत्पन्न होना। अतः यदि संसार अभाव-रूपा माया से उत्पन्न हुआ है तो अभाव रूप होने के कारण वास्तव में है नहीं।

**संगति—** अब यह दिखलाते हैं कि इस भावाभावरूप संसार से अतीत जो ब्रह्म है वही अविनाशी है—

**परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।**  
**यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥२०॥**

**भावार्थ—** उस [संसार-कारणरूप] अव्यक्त से परे जो [ब्रह्मरूप] अन्य अव्यक्त भाव है वह सनातन (सदा रहने वाला) है। वह सम्पूर्ण भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। वह कार्य-कारण से अतीत है अथवा सब वही है।



अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥२१॥

भावार्थ— जो अव्यक्त (शुद्ध ब्रह्म) अक्षर (अविनाशी) कहा गया है उसी को परम गति कहते हैं, जिसे प्राप्त होने पर फिर नहीं लौटते और वही मेरा परम धाम है।

व्याख्या— श्लोक १८, १९ और २० में तो 'अव्यक्त' शब्द से माया या प्रकृति कही गयी है किन्तु इस श्लोक में 'अव्यक्त' का अर्थ शुद्ध ब्रह्म है। वस्तु को प्राप्त करने वाला वस्तु से भी उत्कृष्ट होता है, जैसे राज्य को प्राप्त करने वाला राजा राज्य से बड़ा होता है। अतः परमात्मा को प्राप्त करने वाला यद्यपि परमात्मा से भी बड़ा है तथापि उसमें बड़प्पन का अभिमान तनिक भी नहीं होता।

प्रश्न— ब्रह्म को 'अव्यक्त' कहकर फिर 'अक्षर' क्यों कहा?

उत्तर— अव्यक्त तो प्रकृति भी है। अतः उससे अलग बताने के लिये ब्रह्म को 'अक्षर' कहा गया है।

परमात्मा चिन्मात्र हैं, अतः उन्हें प्राप्त होने पर फिर नहीं लौटता, क्योंकि फिर वह भी चिन्मात्र हो जाता है। संसार में तो कामना या वासना वाला जीव ही लौटता है। इस लोक में जैसे जीवन्मुक्त आभास मात्र ही रहते हैं; वैसे ही उपासक इष्टदेव के धाम में रहते हैं।

संगति—अगले श्लोक में परमात्मा का स्वरूप बतलाया गया है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।

यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥२२॥

भावार्थ— हे पार्थ! वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से ही प्राप्त हो सकता है, जिसमें कि सम्पूर्ण भूत स्थित हैं और जिससे यह सम्पूर्ण प्रपञ्च व्याप्त है।

व्याख्या— जैसे खाँड के खिलौने में खाँड ही खाँड होती है वैसे ही यह प्रपञ्च परमात्ममय ही है। अथवा 'ततम्' का अर्थ विस्तार किया जाय तो वह तात्पर्य समझना चाहिये कि जैसे बीज से वृक्ष का



विस्तार होता है तो वास्तव में वह बीज से भिन्न नहीं होता उसी प्रकार ब्रह्म से उत्पन्न हुआ यह प्रपञ्च ब्रह्म से भिन्न नहीं है। किन्तु यहाँ परिणामवाद नहीं समझना चाहिये, क्योंकि रज्जु से सर्प के समान परमात्मा से प्रकृति की सत्ता भिन्न नहीं है। बोध से पहले तो संसार की उत्पत्ति माया से बतलायी जाती है, किन्तु बोधवान् की दृष्टि में तो सब कुछ वासुदेव ही है।

**संगति—** यहाँ भक्ति का प्रसङ्ग समाप्त होता है। आगे देवयान और धूमयान मार्गों का वर्णन है।

**यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।**

**प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतवर्षभ॥२३॥**

**भावार्थ—** हे भरतश्रेष्ठ! जिस काल या मार्ग से जाने वाले योगी देहत्याग के पश्चात् फिर नहीं लौटते और जिससे फिर लौट आते हैं उस काल का वर्णन करूँगा।

**व्याख्या—** इस प्रसङ्ग का सम्बन्ध मुख्यतया कर्मकाण्ड से है। यहाँ ज्ञान और प्रेम की चर्चा चल रही थी, इसलिये इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। परन्तु जब तक श्रुत और इष्ट प्रपञ्च से वैराग्य नहीं होता तब तक ज्ञान और प्रेम में प्रवृत्ति भी नहीं होती। मार्गों के विषय में सुना तो है ही। यदि उनका चिन्तन करेंगे तो उन्हीं की प्राप्ति होगी, परमात्मा की प्राप्ति से वञ्चित रह जायेंगे। अतः उनसे वैराग्य कराने के लिये यहाँ उनका वर्णन किया जाता है। ज्ञानयोगी और भक्तियोगी इनके मोह में नहीं पड़ते—यह बात आगे २७ वें श्लोक में कही भी है।

**अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।**

**तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥२४॥**

**भावार्थ—** जिस काल में ज्योतिर्मय अग्नि-अभिमानी देवता, दिवसाभिमानी देवता, शुक्लपक्षाभिमानी देवता और उत्तरायण के छः मासों के अभिमानी देवता रहते हैं उसमें मरकर गये हुए कृतोपासक ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं।



**व्याख्या—** यहाँ 'काल' शब्द का अर्थ मार्ग है, आगे २७ वें श्लोक में इसके लिये मार्गवाची 'सृती' शब्द का प्रयोग किया भी है। 'ब्रह्म' शब्द से भी यहाँ कारण-ब्रह्म या कार्य-ब्रह्म ही समझना चाहिए क्योंकि उपासना निर्गुण या सगुण ब्रह्म की ही होती है, शुद्ध या निर्विशेष ब्रह्म की नहीं।

**धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।**

**तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥२५॥**

**भावार्थ—**तथा जिस काल में धूम, रात्रि कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छः मासों के देवता रहते हैं उसमें मरकर गये हुए कर्म-काण्डी चन्द्रलोक को प्राप्त होकर [ भोग समाप्त होने पर ] लौट आते हैं।

**संगति—** अगले श्लोक में इन मार्गों से जाने वालों का पुनरागमन और अपुनरागमन इनसे वैराग्य करने के लिये बताया गया है।

**शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।**

**एकया यात्यनावृत्तिमन्यथावर्तते पुनः॥२६॥**

**भावार्थ—** जगत् के दो ये शुक्ल (देवयान) और कृष्ण (धूमयान) मार्ग सनातन माने गये हैं। इनमें एक के द्वारा अपुनरावृत्ति (पुनः न लौटने को) प्राप्त होता है और दूसरे के द्वारा गया हुआ फिर लौट आता है।

**व्याख्या—** अर्जुन को दृष्ट और श्रुत भोगों से वैराग्य कराना है, क्योंकि उसकी आस्था कर्मकाण्ड में ही अधिक थी, इसलिए यहाँ उपासकों को प्राप्त होने वाले शुक्ल मार्ग का और कर्मकाण्डियों को प्राप्त होने वाले कृष्ण मार्ग का वर्णन किया गया है। ये दोनों मार्ग अज्ञानियों के लिये ही हैं, ज्ञानी तो कहीं जाता-आता नहीं।

**प्रश्न—** जब एक मार्ग से गया हुआ लौटता है और दूसरे से जाने वाला नहीं लौटता तो दोनों मार्ग अज्ञानियों के लिये कैसे हुए?



उत्तर— ज्ञान में तो कहीं जाना-आना नहीं है, वहाँ तो सृष्टि ही नहीं है, फिर कौन कहाँ जायगा? इसलिये ज्ञानदृष्टि से यह सब अज्ञान ही है।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥२७॥

भावार्थ— हे पार्थ! इन दोनों मार्गों को जानने वाला कोई योगी (ज्ञानी) मोह को प्राप्त नहीं होता। अतः हे अर्जुन! तुम हर समय योगयुक्त रहो अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति का अभ्यास करो।

वेदेषु यज्ञेषु तपः सु चैव

दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।

अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा

योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥२८॥

भावार्थ— योगी (ब्रह्मनिष्ठ) इस रहस्य को जानकर वेद, यज्ञ, तप और दानादि के द्वारा जो फल बताया है उस सबको पार कर जाता है तथा जो सबसे श्रेष्ठ और सबका आदिकारण है उस (परब्रह्मरूप) स्थान को प्राप्त होता है।

व्याख्या— अर्थात् लौकिक अलौकिक सभी प्रकार के भोगों से विरक्त होकर परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। यहाँ उसी योगी से तात्पर्य है जिसे अध्याय ६ श्लोक ४६ में तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी सभी से बढ़कर बताया है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां

योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे

अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः॥८॥



ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

## अथ नवमोऽध्यायः

**संगति—** श्रीमद्भगवद्गीता में नवम अध्याय बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें कर्म, ज्ञान और भक्ति सभी विषयों का विशद वर्णन है। अतः इसके प्रत्येक प्रकरण का बहुत ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिये।

इस अध्याय में कर्म और उपासना के साधन बतलाते हुए तत्त्वज्ञान को उसका फल बतलाया है। पहले फल और फिर साधन का वर्णन करेंगे। आठवें अध्याय में अर्जुन ने सात प्रश्न किये थे। उनका उत्तर भगवान् ने पूर्णरूप से दे दिया और कहा कि ज्ञान देश-काल-वस्तु से अतीत है, इसलिये बहुत कठिन है। अर्जुन श्रीभगवान् के उत्तर से तृप्त हो गया और जब उसका कोई प्रश्न शेष न रहा तो अहैतुकी कृपा करने वाले भगवान् स्वयं कहने लगे।

श्री भगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।

ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

**भावार्थ—** श्रीभगवान् ने कहा— तुम अदोषदर्शी हो। मैं तुम्हारे प्रति यह सबसे अधिक गोपनीय विज्ञान के सहित ज्ञान कहूँगा, जिसे जानकर तुम [जन्म-मरणरूप] अशुभ से मुक्त हो जाओगे।

**व्याख्या—** भगवान् कहते हैं कि अर्जुन! तुम असूया रहित हो। दूसरों के गुणों में दोषारोपण करने वाले नहीं हो। अर्थात् किसी के निन्दक या किसी से ईर्ष्या करने वाले नहीं हो। इसलिये मैं तुमसे गोपनीय ज्ञान कहूँगा, क्योंकि तुम इसके अधिकारी हो। भगवान् के इस कथन का आशय यह है कि यह रहस्य किसी अनधिकारी को नहीं सुनाना चाहिये। इसी की पुष्टि अध्याय १८ के ६७ वें श्लोक द्वारा की जायगी। वहाँ भगवान् कहेंगे कि मेरा यह ज्ञान, तप और भक्तिहीन



पुरुष को तथा जो गुरुजनों की सेवा न करता हो अथवा मेरे सगुण रूप की निन्दा करता हो ऐसे व्यक्ति को नहीं सुनाना चाहिये। ऐसे लोगों को सुनाने से इसका विपरीत ही फल होगा, वे इसका यथार्थ रहस्य समझ नहीं सकेंगे। ऐसे मलिन अन्तःकरण वाले अनधिकारी एवं सवासनिक पुरुषों के लिये ही यह ज्ञान गुह्यतम है। जो निर्वासनिक और शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं उनके लिये तो यह प्रत्यक्ष और सुसुख है— यही बात अगले श्लोक में कही जाती है।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।  
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

भावार्थ— यह राजविद्या, राजगुह्य, पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाली धर्मानुकूल, सुगमता से आचरण में आने वाली और अविनाशी है।

व्याख्या— यह विद्याओं की राजा अथवा राजाओं के पास रहने वाली विद्या है। राजा लोग इसे पाकर निर्भय हो जाते थे तथा सहज ही में रणस्थल में प्राण होम देते थे। पीछे यह ब्राह्मणों के पास आयी क्योंकि उनमें वैराग्य स्वभाव से ही रहता है। अतः इसका अधिकारी वैराग्यवान् पुरुष ही है। कहा भी है —

अरण्यनिष्ठस्य जितेन्द्रियस्य सर्वेन्द्रियप्रीतिविवर्जितस्य।  
अध्यात्मचिन्तास्थितमानसस्य ध्रुवा ह्यनावृत्तिरुपेतकस्य॥

अर्थात् जो वनवासी हो, जितेन्द्रिय हो, जिसे किसी भी इन्द्रिय का राग न हो और जिसका चित्त अध्यात्म-चिन्तन में लगा हो उसका अपुनरागमन निश्चित है। अर्थात् वह मुक्ति का पूर्ण अधिकारी है।

विद्याओं में सबसे बड़ी होने के कारण इसे राजविद्या कहा है। भले ही कोई सम्पूर्ण विद्याओं में पारङ्गत हो तथापि इसके बिना उसे शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये यह सब विद्याओं की राजा है। यह राजविद्या अत्यन्त गोपनीय है। जैसे राजा को किले और सेना के बीच में सुरक्षित रखते हैं उसी प्रकार इस विद्या को विषयी, मूर्ख और अविचारी लोगों से छिपाकर रखना चाहिये। किन्तु अधिकारी



के प्रति प्रकट कर देनी चाहिये, क्योंकि—‘गूढ़हु तत्त्व न साधु दुरावहि।  
आरत अधिकारी जहँ पावहि।’

अथवा यह विद्या गुरुपरम्परा से ही जानी जाती है, इसलिये गुह्य है। अथवा इसलिये गुह्य है कि कोई राजा या वीर ही इसे छिपाकर रख सकता है। जो शम-दमादि साधनों से सम्पन्न और जितेन्द्रिय हो वही वीर है। अर्जुन भी इन्द्रियजित है, इसीलिये अगले श्लोक में भगवान् ने उसे ‘परन्तप’ कहकर सम्बोधन किया है।

यह विद्या पवित्र और अति उत्तम है, क्योंकि संसार में इससे अधिक पवित्र कुछ भी नहीं है। यह बात अध्याय ४ श्लोक ३८ में ‘न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते’ इन शब्दों में कही गयी है।

यह प्रत्यक्ष फल देने वाली है। यज्ञादि कर्मों का फल तो कालान्तर में मिलता है, परन्तु इसका फल तत्काल प्रत्यक्ष अनुभव में आ जाता है। बोध-काल में ही उसकी अनुभूति हो जाती है। सम्पूर्ण दृश्य तो भ्रांतिजन्य प्रतीतिमात्र है। उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं है किन्तु आत्मा तो स्वयं आप ही है। वह साक्षात् अपरोक्ष है और स्वतः सिद्ध है, किन्तु मूर्ख लोग संसार को प्रत्यक्ष मानते हैं और आत्मा को परोक्ष। वे सत्य को बाहर ढूँढ़ते हैं।

यह विद्या धर्म्य-धर्मानुकूल है और ‘कर्तुं सुसुखम्’ अर्थात् आचरण में सुगम है। जो वस्तु साधन से प्राप्त हो वह कठिन होती है—‘यत्सुखं साधनाधीनं तत्सुखं दुःखमेव हि।’ यह विद्या साधनसाध्य नहीं है केवल विचारसाध्य है, इसलिये सुसुख है। यह अव्यय-अविनाशी है। एक बार प्राप्त हो जाने पर इसका नाश नहीं होता। लौकिक सुख तो नष्ट हो जाता है, यह तो अलौकिक है। भगवान् ने भी कहा है—‘यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।’

संगति— यदि यह विद्या इतनी महत्वपूर्ण है तो इसे प्राप्त करने की इच्छा सभी को क्यों नहीं होती? इसका उत्तर अगले श्लोक में देते हैं।



अश्रद्धधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।  
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥३॥

२८३

भावार्थ—हे परंतप! इस [ज्ञानरूप] धर्म में श्रद्धा न रखने

वाले पुरुष मुझे प्राप्त न होकर मृत्युरूप संसार-मार्ग में लौट आते हैं।

व्याख्या— जो लोग आसुरी सम्पत्ति वाले होते हैं उनकी इसमें प्रवृत्ति नहीं होती। वे श्रद्धाहीन होने के कारण इस धर्म को प्राप्त न कर जन्म-मरणरूप संसार-चक्र में घूमते रहते हैं। वे इससे मुक्त नहीं हो पाते और न उन्हें मेरी ही प्राप्ति होती है। मेरी प्राप्ति तो निर्वासनिक और श्रद्धा-सम्पन्न पुरुषों को ही होती है। ये लोग स्त्री, पुत्र और धनादि में आसक्त रहते हैं, इसलिये मुझ में इनकी श्रद्धा नहीं होती।

संगति— अब अगले दो श्लोक में अन्वय-व्यतिरेक द्वारा तत्त्व बोध कराते हैं। परन्तु जो आचार्य निषेध या व्यतिरेक के द्वारा तत्त्व अनुभव होने से पहले ही अन्वय का उपदेश कर देते हैं वे तो शिष्य का गला ही काटते हैं, क्योंकि वास्तव में विधि या अन्वय उपदेश करने की वस्तु नहीं है। इसका बोध होने पर स्वयं ही अनुभव होता है। आगे के दोनों श्लोक बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। जिसने उन्हें समझ लिया उसे मानो पूरा वेदान्त आ गया।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥४॥

भावार्थ— अव्यक्तस्वरूप मुझसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। सम्पूर्ण भूत मुझमें ही स्थित हैं किन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।

व्याख्या— जैसे बर्फ में जल ही जल होता है वैसे ही इस दृश्य-प्रपञ्च में मैं ही मैं हूँ, मुझसे भिन्न इसमें कुछ भी नहीं है। किन्तु जैसे स्वप्न तो स्वप्न-द्रष्टा से भिन्न नहीं होता किन्तु स्वप्न-द्रष्टा सम्पूर्ण स्वप्न से पृथक् ही होता है, इसी प्रकार मैं इस प्रपञ्च से पृथक् हूँ।

यहाँ जो दृश्य में मेरी व्याप्ति है वह दूध में चीनी के समान संयोग-सम्बन्ध से नहीं है, प्रत्युत ऐसी है जैसे आकाश में नीलिमा, आभूषणों में सुवर्ण बर्फ में जल अथवा घट-शराबादि में मृत्तिका।



इसी प्रकार ब्रह्मा से लेकर कीड़ी-पर्यन्त सब भूत मुझ में ही स्थित हैं, परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ। मुझ में तो जगत् का अत्यन्ताभाव है।

इस श्लोक से यह सिद्ध हुआ कि सब मैं ही हूँ, अतः किसी को भी मेरी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि प्राप्ति तो किसी अन्य अप्राप्त वस्तु की हुआ करती है।

‘अव्यक्त’ का अर्थ ब्रह्म, ईश्वर और माया हैं। प्रसङ्ग के अनुसार इसके विभिन्न अर्थ होते हैं। यहाँ इसका अर्थ शुद्ध ब्रह्म ही है।

**संगति—** इस श्लोक में भूत-प्राणियों में अपनी स्थिति का निषेध किया है। अब अगले श्लोक में यह दिखलाते हैं कि न तो भूत मेरे में स्थित हैं और न मैं उनमें हूँ।

**न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।**

**भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥५॥**

**भावार्थ—** सम्पूर्ण भूत भी मुझ में स्थित नहीं हैं। मेरा यह ऐश्वर्य-योग (चमत्कार) देखो। भूतों की उत्पत्ति करने वाला मेरा स्वरूप भूतों का भरण (धारण) करने वाला होने पर भी भूतों में स्थित नहीं है।

**व्याख्या—** श्लोक ४ के पूर्वार्द्ध में कहा था कि मैं सब में हूँ। फिर उत्तरार्द्ध में कहा कि सब मुझ में हैं, परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ, क्योंकि मैं अधिष्ठान हूँ और अधिष्ठान अध्यस्त में नहीं होता। वह तो सर्वथा उससे असङ्ग ही रहता है।

इस श्लोक में कहते हैं कि संसार की उत्पत्ति मुझसे इसी प्रकार है जैसे मिट्टी से घट की उत्पत्ति। किन्तु अन्तर इतना है कि घट के तो निमित्त और उपादान कारण भिन्न-भिन्न होते हैं और यहाँ मैं ही निमित्त हूँ और मैं ही उपादान। अतः यह दृष्टान्त भी पूर्णतया लागू नहीं होता। यदि मायावी का दृष्टान्त दें तो वह भी किसी वस्तु का ही रूपान्तर करके दिखाता है, किन्तु यहाँ तो कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं। अतः वास्तव में यहाँ न कोई उपादान है न निमित्त। किन्तु नियम ऐसा है कि कार्य की उत्पत्ति किसी कारण से ही होती है और यहाँ न कोई कारण है न कर्ता। अतः बिना कर्ता के ही सृष्टि की उत्पत्ति हो गयी—



यही मेरा ऐश्वर्य योग (चमत्कार) है। इसी से श्लोक ४ में कहा है कि मैं सबमें व्याप्त हूँ, क्योंकि सर्वरूप मैं ही हूँ। सब भूत मुझ में ही स्थित हैं, क्योंकि मैं सबका आधार हूँ।

किन्तु यहाँ कहते हैं कि सम्पूर्ण भूत मुझ में नहीं हैं। जैसे पृथ्वी पर रखे हुए घट का आधार पृथ्वी है तो पृथ्वी घट से भिन्न भी है और अभिन्न भी। भिन्न दिखाई देने पर भी तत्त्वतः वह अभिन्न है और वस्तुतः पृथ्वी में घट का अत्यन्ताभाव है। इसी प्रकार वास्तव में यह सारा प्रपञ्च हुआ ही नहीं। इसीसे कहा है—‘न च मत्स्थानि भूतानि’ क्योंकि वास्तव में ये भूत हैं नहीं, मेरे स्वरूप में इनका अत्यन्ताभाव है। परन्तु सर्वथा न होने पर भी इनकी प्रतीति होती है— यही मेरा चमत्कार है। यही बात संकेत करते हुए अर्जुन से कहते हैं कि तुम इसे देखो अर्थात् अनुभव करो कि मेरा आत्मा (स्वरूप) सब भूतों को उत्पन्न और पोषण करने वाला होने पर भी अर्थात् सब को सत्ता देने वाला होने पर भी उनमें स्थित नहीं है। वह उन सबसे सर्वथा असङ्ग है।

यहाँ भगवान् सम्पूर्ण भूतों का अत्यन्ताभाव दिखला कर यह सूचित करते हैं कि मैं सब करते हुए भी निर्लेप हूँ, शुद्ध हूँ और अव्यक्त हूँ क्योंकि सबका साक्षीमात्र हूँ। मुझमें भूतों की उत्पत्ति हुई ही नहीं, तथापि सब मेरे में हैं, सब मैं ही हूँ और मेरे स्वरूप में सबका अत्यन्ताभाव है। जैसे आकाश निर्मल है, तथापि वायु आदि सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति उसीसे हुई है। सब भूत आकाश में ही हैं, परन्तु फिर आकाश सब भूतों से असंग है। जिस प्रकार आकाश वायु आदि को उत्पन्न नहीं करता, वे स्वयं ही उत्पन्न होते हैं तथा इनके उत्पन्न होने पर भी वह इनसे निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार सब सृष्टि स्वयं ही उत्पन्न हुई है और यह सारी क्रिया होने पर भी मैं निष्क्रिय रहता हूँ। यही मेरा ऐश्वर्य-योग चमत्कार या माया है। जो वस्तु वस्तुतः उत्पन्न नहीं होती वह अधिष्ठान रूप ही होती है। अतः सारा संसार परमात्म स्वरूप ही है। यह आकाश की नीलिमा के समान परमात्मा से अभिन्न होने पर भी भिन्नवत् भासता है।



संगति— अगले श्लोक में सम्पूर्ण भूतों की स्थिति अपने में बतलाते हैं—

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।

तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

भावार्थ— जिस प्रकार सर्वत्र गमन करने वाला वायु सर्वदा आकाश में रहता है वैसे ही सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं।

व्याख्या— जिस प्रकार आकाश में वायु कभी शान्त और कभी गतिशील हुआ निरन्तर सदा ही स्थित रहता है, किन्तु निर्मल आकाश उससे निर्लिप्त ही रहता है, कभी मलिन नहीं होता, उसी प्रकार पञ्चकोशों के रहने पर भी आत्मा कभी उनसे लिप्त नहीं होता तथा जिस प्रकार निर्विकार आकाश से चंचल वायु की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार निर्विकार आत्मा से इस दृश्य-प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है। श्रुति भी कहती है 'अजायमानो बहुधा व्यजायते' 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' इत्यादि।

संगति— भगवान् ने श्लोक ४ और ५ में जो सिद्धान्त कहा था उसी को इस श्लोक में दृष्टान्त द्वारा समझाया है। किन्तु जब देखा कि अभी अर्जुन यह नहीं समझ सका कि यह संसार आत्मा से ही उत्पन्न हुआ तो पुनः अगले श्लोकों द्वारा उसकी पुष्टि करते हैं—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

भावार्थ— हे कौन्तेय! कल्प का अन्त होने पर सम्पूर्ण भूत मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं। उन्हें कल्प के आरम्भ में मैं पुनः उत्पन्न करता हूँ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।

भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

भावार्थ— अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर मैं प्रकृति के अधीन होने के कारण अस्वतन्त्र उन समस्त भूत समुदाय को पुनः पुनः रचता रहता हूँ।



**व्याख्या—** सिद्धान्ततः तो प्रकृति की सत्ता है नहीं, किन्तु जिज्ञासु को समझाने के लिये व्यावहारिक रूप से उसका आरोप कर लिया जाता है। भगवान् से सृष्टि की उत्पत्ति वास्तव में तो होती नहीं, किन्तु जिज्ञासु की दृष्टि से दृश्य-प्रपञ्च की सत्ता अकस्मात् भी नहीं होती। इसलिये प्रकृति की व्यावहारिकी सत्ता स्वीकार करके उसे बोध कराने का प्रयत्न किया जाता है। इस बात को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। जैसे सूर्योदय होने से कमल खिल जाता है, किन्तु सूर्य स्वयं उसे खिलाने की क्रिया नहीं करता। तथापि यह स्वीकार किया जाता है कि सूर्य की शक्ति ही कमल को खिलाती है। उसी प्रकार यद्यपि भगवान् सृष्टि-प्रलय आदि कुछ नहीं करते, फिर व्यवहार में सृष्टि-प्रलय आदि देखे जाते हैं; अतः ऐसा आरोप किया जाता है किये भगवान् की शक्ति या प्रकृति के द्वारा ही होते हैं। इस प्रकार सृष्टि तो प्रकृति के अधीन है किन्तु प्रकृति भगवान् के अधीन है। इसका उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यही बात अगले श्लोक से कहते हैं।

**न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।**

**उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥**

**भावार्थ—** किन्तु हे धनञ्जय! उन [सृष्टि और प्रलय के] कर्मों में उदासीन के समान रहने वाले मुझको वे कर्म बाँध नहीं पाते।

**व्याख्या—** भगवान् यहाँ उदासीन के समान अपनी तटस्थता दिखला रहे हैं। वे स्वयं तो तटस्थ साक्षी के समान हैं। उनकी सत्तामात्र से प्रकृति के ये सब कार्य होते रहते हैं। वे स्वयं कर्तृत्वाभिमान से शून्य और त्रिपुटी से रहित हैं, इसलिये इन कर्मों से वे बन्धायमान नहीं हो सकते।

**मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।**

**हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥**

**भावार्थ—** हे कुन्तिनन्दन! मेरी अध्यक्षता में यह प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है और इसी कारण जगत् परिवर्तित (उत्पन्न और नष्ट) होता रहता है।

**व्याख्या—** इस श्लोक द्वारा प्रकृतिवादियों के मत का खण्डन हो जाता है, क्योंकि इससे सूचित होता है कि संसार की रचना में



प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है। वह ये सारे व्यापार मेरी सत्ता से ही करती है। जैसे राजा स्वयं कुछ भी नहीं करता तो भी राज्य का सारा काम उसी की सत्ता से होता है, उसी प्रकार अधिष्ठान चेतन की सत्ता के बिना अध्यस्त प्रकृति कुछ नहीं कर सकती। इसमें अनेकों श्रुति और स्मृति भी प्रमाण हैं।

**प्रश्न—** यदि सृष्टि परमात्मा करता है तो उसी को पाप-पुण्य भी लगने चाहिये।

**उत्तर—** परमात्मा तो केवल अध्यक्ष है, रचना तो प्रकृति करती है।

**प्रश्न—** यदि प्रकृति ही रचना करती है तो परमात्मा को जानने की क्या आवश्यकता है?

**उत्तर—** प्रकृति हमें जन्म-मरण के चक्र में डालती है और परमात्मा उससे छुड़ाता है, इसलिये उसे जानना आवश्यक है।

**संगति—** अब अगले दो श्लोकों से भगवान् यह बतलाते हैं कि सब लोग मेरे स्वरूप को क्यों नहीं जानते। अध्याय ७ श्लोक २४ में जो बात कही है उसी को पुनः कहते हैं—

**अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।**

**परं भावंजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥११॥**

**भावार्थ—** सम्पूर्ण भूतों के महान् ईश्वर रूप मेरे परम भाव को न जानने के कारण मूढ़ पुरुष मुझे मनुष्य शरीर के आश्रित मानकर [अर्थात् यशोदानन्दन समझकर] मेरी अवज्ञा (अपमान) करते हैं।

**व्याख्या—** मुझे मनुष्य शरीर के आधीन वे ही मानते हैं जिनकी शरीर में ही आत्मबुद्धि है तथा जिन्हें जाति, कुल, विद्या, शील, धन और आश्रमादि का अभिमान है। जो निद्रा, तन्द्रा और आलस्य में ही सारा समय व्यतीत करते हैं, जो शास्त्रवासना और लोकवासना के अधीन हैं तथा शरीर के पालन-पोषण में ही जिनका सारा समय नष्ट होता है, वे ही मूढ़ कहे गये हैं। ऐसे लोगों का मोक्ष कभी नहीं हो सकता। कहा भी है—



न लोकचित्तग्रहणे रतस्य न भोजनाच्छादनतत्परस्य।  
न शब्दशास्त्राभिरतस्य मोक्षो न चातिरम्यावसथप्रियस्य॥

अर्थात् जो लोगों का मन आकर्षित करने में लगा हुआ है, भोजन और वस्त्र की ही व्यवस्था में तत्पर है, शब्द-शास्त्र में ही जिनकी अभिरुचि है और जिसे बहुत रमणीक स्थान में रहने की रुचि है, उस व्यक्ति की मुक्ति नहीं होती।

**मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।**

**राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥१२॥**

**भावार्थ—** वे मूर्ख पुरुष राक्षसी और आसुरी, मोहमयी प्रकृति के अधीन होते हैं तथा उनकी आशा, कर्म और ज्ञान भी व्यर्थ होते हैं।

**व्याख्या—** मेरे परम भाव को न जानने वाले उन मूर्खों के मनोरथ अनन्त और निष्फल होते हैं। उनके कर्म, भाषण और श्रवण भी व्यर्थ होते हैं तथा उनका ज्ञान भी निष्फल होता है। वे भौतिक ज्ञान के पीछे ही पड़े रहते हैं। उन्हें यही जानने की धुन रहती है कि रेल कैसे बनती है रेडियो और टेलीग्राफ कैसे काम करते हैं तथा वायुयान कैसे उड़ते हैं। ये भौतिक विज्ञानी वास्तव में विचेतस् हैं, इनका चित्त भ्रमित है, क्योंकि ये भगवान् को भूले रहते हैं तथा विवेकहीन होते हैं।

वे मोह में डालने वाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति के अधीन होते हैं। अतः मद्य-मांस का सेवन करने वाले, दयाहीन, अपवित्र, तमोगुणी और अकारण ही दूसरों को दुःख देने वाले होते हैं। प्रातःकाल देर तक सोते हैं और रात्रि में देर तक जागते रहते हैं। रजोगुण प्रधान होने के कारण स्वार्थसिद्धि पर ही उनकी दृष्टि रहती है।

**संगति—** यहाँ यह बतलाया कि आसुरी प्रकृति वाले मुझे नहीं जान पाते। अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि दैवी प्रकृति वाले मुझे जानकर मेरा ही भजन करते हैं—

**महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।  
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्यम्॥१३॥**



**भावार्थ—** परन्तु हे पार्थ! दैवी प्रकृति का आश्रय लेने वाले महात्मा मुझे सब भूतों का आदिकारण और अविनाशी जानकर अनन्य मन से मेरा भजन करते हैं।

**व्याख्या—** जो परमात्मा से प्रेम करने वाले, उदारचित्त, दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न, सबमें भगवद्दृष्टि रखने वाले, परदुःखकातर, स्वभाव से ही सहनशील, अहिंसक और किसी से भी द्रोह करने वाले नहीं होते, वे ही 'महात्मा' कहे गये हैं। वे भगवदीय गुणों से सम्पन्न होते हैं। वे अनन्य मन से अर्थात् संसार की सब इच्छाओं को छोड़कर, एकाग्रचित्त से अव्यभिचारिणी भक्ति द्वारा मुझे भजते हैं अर्थात् निरन्तर आत्माकार वृत्ति करते हैं। इस श्लोक में 'ज्ञात्वा' पद से बोध और 'भजन्ति' से ज्ञानाभ्यास समझना चाहिये। अर्थात् वे तत्त्वज्ञान के पश्चात् निरन्तर ब्रह्माभ्यास करते हैं।

**प्रश्न—** आप कहते हैं कि बोध होने के पश्चात् निरन्तर अभ्यास करते हैं सो अभ्यास या निदिध्यासन आत्मसाक्षात्कार से पहले किया जाता है या पीछे?

**उत्तर—** आत्मा को खोजना भी अभ्यास ही है और यह बोध से पहले किया जाता है। बोध होने पर जो ब्रह्माकार वृत्ति की आवृत्ति की जाती है वह तो जीवन्मुक्ति के आनन्द के लिए है आत्मप्राप्ति के लिए नहीं और यह कर्तृजन्य भी नहीं है।

**प्रश्न—** आप कहते हैं कि यह कर्तृजन्य नहीं है। यह कैसे हो सकता है? यह क्रिया है तो कर्तृजन्य ही होनी चाहिये।

**उत्तर—** जिस प्रकार ईश्वर सृष्टि का कर्ता होने पर भी अकर्ता है तथा सम्पूर्ण संसार उसी में होने पर भी वह अभोक्ता है, इसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष सब कुछ करते हुए भी अकर्ता, अभोक्ता और नित्यमुक्त है, क्योंकि बोधवान् की दृष्टि में उसकी स्वरूप-सत्ता से भिन्न कुछ भी नहीं होता।

**संगति—** अब अगले श्लोक में भजन करने की युक्ति बतलाते हैं—  
 सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।  
 नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥



**भावार्थ—** वे दृढ़वती भक्तजन निरन्तर मेरा कीर्तन करते मेरी प्राप्ति का प्रयत्न करते, मुझे नमस्कार करते और सदा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं।

**व्याख्या—** दृढ़वती वे हैं जो अपने इष्ट और मन्त्र का परिवर्तन नहीं करते, किसी की बातों से प्रभावित नहीं होते तथा गुरुवाक्य में दृढ़ आस्था रखते हैं। वे यत्नशील होकर भजन के विघ्नों से बचते हुए जार स्त्री के समान निरन्तर अपने इष्ट का चिन्तन करते हैं। अर्थात् सगुण या निर्गुण उपासना करते हैं।

**ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।**

**एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥**

**भावार्थ—** दूसरे लोग मुझ सर्वस्वरूप की ज्ञानयज्ञ द्वारा पूजन करते हुए एकत्व भाव से उपासना करते हैं और कोई भेददृष्टि से भी उपासना करते हैं।

**व्याख्या—** कोई ज्ञानयज्ञ द्वारा आत्मा-अनात्मा का विवेक करके अनात्मा को त्याग कर आत्माकार वृत्ति करते हैं। कोई मुझ अनन्तस्वरूप को एक सत्ता में लाकर अभेद भाव से अहंग्रह उपासना करते हैं और कोई राम, कृष्ण, दुर्गा आदि विभिन्न रूपों में मेरी प्रतीकोपासना करते हैं। इसी प्रकार साकार-निराकार आदि अनेकों भावों में मेरी उपासना की जाती है।

**संगति—** यहाँ भेद और अभेदरूप से भक्ति के दो भेद किये गये। अगले श्लोक में एकत्वेन और पृथक्त्वेन कहकर यह दिखलाते हैं कि यज्ञ के सब अङ्ग मेरे ही स्वरूप हैं। अतः सर्वरूप में मेरी ही उपासना होती है।

**अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।**

**मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥**

**भावार्थ—** क्रतु (श्रोतकर्म) मैं हूँ, यज्ञ (स्मार्त-पञ्चयज्ञादि) मैं हूँ, स्वधा (पितरों के लिए हवन किया अन्न) मैं हूँ, औषधि मैं हूँ, मन्त्र



मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ तथा आहुति भी मैं ही हूँ। [इस प्रकार सम्पूर्ण चराचर मेरा ही स्वरूप है।]

**पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।**

**वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥१७॥**

**भावार्थ—** इस सम्पूर्ण जगत् का धारण-पोषण करने वाला इसके माता, पिता और पितामह तथा जानने योग्य पवित्र ओंकार एवं ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ।

**व्याख्या—** सब भगवत्स्वरूप ही है अतः माता पिता और रोगी आदि की सेवा भी भगवान् की ही सेवा है। अतः भगवद्दृष्टि से हम किसी की भी सेवा करें उससे हमारा कल्याण ही होगा।

**गतिर्भर्ता प्रभु साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।**

**प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥१८॥**

**भावार्थ—** मैं ही गति (मुक्ति देने वाला), भर्ता भरण-पोषण करने वाला, प्रभु (स्वामी), साक्षी (शुद्ध चेतन) सबका निवास स्थान, शरण लेने योग्य सुहृद (प्रत्युपकार की इच्छा न रखकर हित करने वाला), उत्पत्ति और प्रलय का स्थान, आधार, निधान (प्रलय स्थान) और अविनाशी बीज (मूल कारण) हूँ।

**संगति—** अगले श्लोक में भी अपनी सर्वरूपता ही प्रकट करते हैं—

**तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।**

**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥१९॥**

**भावार्थ—** मैं (सूर्यरूप से) तपता हूँ, (मेघरूप से) वर्षा करता हूँ, मैं ही जल को आकर्षित करता और छोड़ता हूँ। और हे अर्जुन! मैं ही अमृत (मोक्ष) और मृत्यु हूँ तथा सत् और असत् भी मैं ही हूँ।

**व्याख्या—** सोलहवें श्लोक से यहाँ तक भगवान् अपनी सर्वरूपता का ही प्रतिपादन कर रहे हैं। वे ही सब हैं और वे ही सब में हैं। ब्राह्म दृष्टि से वे सर्वरूप हैं और आन्तर दृष्टि से तो केवल वे ही हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सब तत्त्ववेत्ता की आन्तर दृष्टि होती



है तो वह पूरा नास्तिक होता है और जब बाह्य दृष्टि होती है तो पूरा आस्तिक होता है। इसीसे भगवान् कहते हैं सत् भी मैं हूँ और असत् भी मैं हूँ। अर्थात् कोई वस्तु जड़ नहीं है, सब चेतन ही चेतन है। इससे मूर्ति पूजा की भी सार्थकता सिद्ध होती है। अध्याय १० के ४-५ और ६ वें श्लोकों में भी यही बात कही गयी है कि सब कुछ मुझसे ही हुआ है। अतः जो भी पूजा होती है वह मेरी ही है। सत् (भाव या सगुण) और असत् (अभाव या निर्गुण) भी मैं ही हूँ अर्थात् शून्य भी मैं ही हूँ। इसलिए किसी भी देवता की उपासना से द्वेष नहीं करना चाहिये। अपनी-अपनी दृष्टि से सभी मतवाद ठीक है, सब भगवान् के ही उपासक हैं। जो इस प्रकार सर्वरूप में भगवान् की उपासना नहीं करता वह अधूरा है।

**संगति—** जो कर्मकाण्डी उपासना तो स्वर्ग की करते हैं, परन्तु चाहते भगवद्प्राप्ति हैं, उनको क्या फल मिलता है, यह बात अगले दो श्लोकों में बताते हैं—

**त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा**

**यज्ञैरिष्टिवा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।**

**ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक—**

**मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥२०॥**

**भावार्थ—**ऋक्, साम, यजु—इन तीनों वेदों के ज्ञाता, सोमरस का पान करने वाले जो निष्पाप पुरुष यज्ञों द्वारा मेरा यजन करके स्वर्ग-प्राप्ति की कामना करते हैं वे उस पवित्र देवलोक में पहुँचकर वहाँ के देवोचित दिव्य भोगों को भोगते हैं।

**ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं**

**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।**

**एवं**

**त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना**

**गतागतं कामकामा लभन्ते॥२१॥**

आन्तर दृष्टि में वह स्व-स्वरूप से भिन्न सबका अभाव देखता है, इसलिये नास्तिक है और बाह्य दृष्टि में वह स्वरूप से ही सबका सद्भाव देखता है, इसलिये आस्तिक है।



**भावार्थ—** उन विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर वे पुनः मर्त्यलोक में आ जाते हैं। इस प्रकार त्रयीधर्म का अनुसरण करने वाले वे भोग-कामी पुरुष आवागमन के चक्र में पड़े रहते हैं।

**व्याख्या—** तात्पर्य यह है किसी भी प्रकार की कामना रहते हुए शान्ति नहीं मिलती, शान्ति तो कामनाहीन पुरुष को ही मिलती है। किन्तु निष्कामता है कठिन। लोगों को लौकिक भोगों की कामना नहीं रहती तो अलौकिक भोग और सिद्धियों की कामना होने लगती है। वैराग्य तो ईश्वर और बोधवान् को भी नहीं होता।

**प्रश्न—** ईश्वर और बोधवान् को भी वैराग्य क्यों नहीं होता?

**उत्तर—** ईश्वर का यदि ऐश्वर्य में वैराग्य हो जाय और वह उसे त्याग दे तो ईश्वरता ही नहीं रहेगी। ऐश्वर्य के कारण ही तो ईश्वर की ईश्वरता है तथा बोधवान् की दृष्टि में किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं होती, फिर वह वैराग्य किससे करेगा? अथवा वह सबको अपना स्वरूप ही देखता है, इसलिये राग या वैराग्य का उसके लिए कोई प्रसङ्ग ही नहीं बनता। वास्तव में तो यहाँ वैराग्य का महत्व दिखलाया है, इस कथन से ईश्वर और बोधवान् की अवज्ञा नहीं की गयी।

**संगति—** अब अगले श्लोक द्वारा भक्ति की पुष्टि करते हैं—

**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।**

**तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥**

**भावार्थ—** जो लोग अनन्य भाव से चिन्तन करते हुए सब प्रकार मेरी ही उपासना करते हैं उस निरन्तर समाहित चित्तवालों के योग-क्षेम का भार मैं स्वयं धारण करता हूँ।

**व्याख्या—** अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति का नाम योग है। साधक को तो भक्ति या आत्मरति ही अभीष्ट है अन्य वस्तुओं की तो उसे आवश्यकता ही नहीं होती। अतः भक्ति या आत्मरति की प्राप्ति करा देना ही 'योग' है। तथा प्राप्त वस्तु की रक्षा करना ही क्षेम है। अतः प्राप्त हुई भक्ति या आत्मरति को स्थायी रूप से बनाये रखना ही यहाँ 'क्षेम' समझना चाहिए।



यहाँ भगवान् का अभिप्राय यह है कि जो अनन्य भाव से मेरी उपासना करते हैं उन्हें मैं अपनी भक्ति देता हूँ। अथवा यदि वे आत्मनिष्ठ हैं तो उन्हें आत्माकार वृत्ति से च्युत नहीं होने देता। उनकी यह वृत्ति बढ़ती रहे यही मेरी कृपा है। भजन करने वालों को अधिक धन की तो इच्छा ही नहीं होती। यदि इच्छा हो भी तो मैं उन्हें अधिक धन नहीं देता। केवल निर्वाहमात्र की ही व्यवस्था करता हूँ, जिससे वे उसमें आसक्त न हों। बस यही मेरे द्वारा उनके योग-क्षेम का निर्वाह है।

**येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।**

**तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥**

**भावार्थ—**तथा जो भक्त श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओं का पूजन करते हैं उनका वह पूजन अविधिपूर्वक है, तथापि वे भी मुझे ही पूजते हैं।

**व्याख्या—**‘हरिदेव’ जगज्जगदेव हरिः’ इस उक्ति के अनुसार सब कुछ मेरा ही स्वरूप है, अतः जानकर अथवा बिना जाने जो भी पूजन किया जाता है वह मेरी ही पूजा होती है। जो बिना जाने पूजन करते हैं उनकी भेददृष्टि होती है, इसलिये उनकी पूजा अविधिपूर्वक है। और जो ब्रह्मार्पण ब्रह्म हवि (४/२४) के अनुसार सब में ब्रह्मदृष्टि रखकर पूजन करते हैं उनकी पूजा विधिपूर्वक होती है।

ये लोग देवताओं को पृथक् पृथक् मानकर पूजन करते हैं, इसलिये इन्हें उन देवताओं की ही प्राप्ति होती है। वे मुझे प्राप्त नहीं होते, क्योंकि उन्हें ऐसी बुद्धि तो होती नहीं कि ये सब भगवत्स्वरूप ही हैं। इसी से जन्म-मरण से मुक्त भी नहीं होते। अतः यदि अनुभव न हो तो भी शास्त्र और गुरुदेव के वचनों में विश्वास रखकर भगवद्बुद्धि से ही उपासना करनी चाहिये। धीरे-धीरे अनुभव भी हो जायगा।

**संगति—**अन्य देवताओं का पूजन करने से भी मेरा ही पूजन कैसे होता है—यह बात अगले श्लोक में स्पष्ट करते हैं—

**अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।**

**न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥**



**भावार्थ—** मैं ही सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और प्रभु हूँ। जो मुझे इस प्रकार नहीं जानते वे तत्त्व से च्युत हो जाते हैं।

**व्याख्या—** भगवान् को सर्वरूप में देखना—यही उन्हें तत्त्व से जानना है। किन्तु इस रूप में तो उन्हें कोई महापुरुष ही जानते हैं। तथापि वास्तविकता तो यही है कि ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय त्रिपुटी के रूप में वे ही भास रहे हैं—‘ज्ञाताज्ञानज्ञेयं त्रिविधं ब्रह्म एतत्’। ‘च्यवन्ते’ का तात्पर्य यह है कि सद्गति तो उनकी भी हो जाती है परन्तु उनका पुनर्जन्म होता है।

**यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः।**

**भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥**

**भावार्थ—** देवताओं के उपासक देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों के लोक जाते हैं और भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं। किन्तु मुझे पूजने वाले मुझ ही को पाते हैं।

**व्याख्या—** जो लोग स्त्री, पुत्र या धन आदि की कामना से भगवान् की उपासना करते हैं वे वास्तव में भगवान् के भक्त नहीं हैं। वे तो भगवान् की ओट में स्त्री-पुत्रादि के ही भक्त हैं। भगवान् के भक्त तो केवल भगवान् को ही चाहते हैं।

**प्रश्न—** भगवान् की उपासना कितने प्रकार की है?

**उत्तर—** यों तो सगुण-निर्गुण भेद से उपासना दो प्रकार है। निर्गुणोपासक योग-साधन के द्वारा परमात्मा की उपासना करते हैं। सगुणोपासना साकार-निराकार भेद से दो प्रकार की है। प्रधानतया आर्यसमाजी सगुण निराकारोपासक हैं। ईसाई-मुसलमान आदि भी इस कोटि में आ सकते हैं। ये लोग भगवान् में दया, कृपा, न्याय आदि दिव्य गुण तो मानते हैं परन्तु उसका कोई आकार नहीं मानते। साकारोपासना के इष्ट देव की लीला तथा स्वरूप आदि के भेद से अनेकों भेद हैं। किन्तु ये सभी उपासनाएँ मुख्यतया तीन भेदों में विभक्त की जा सकती हैं— वैधी, गौणी और अनुरागात्मिका। जो शास्त्रविधि या कुल परम्परा के अनुसार पूजनादि किये जाते हैं वह



वैधी उपासना कहलाती है। इसमें विधि-विधान की प्रधानता होती है। इष्टदेव के गुण या भाव की प्रधानता नहीं होती। गौणी उपासना में इष्टदेव के गुण और प्रभाव पर दृष्टि रहती है। भगवान् के ऐश्वर्य को लक्ष्य करके उनकी भक्ति करना गौणी उपासना है। अनुरागात्मिका भक्ति में प्रेम की प्रधानता होती है। यहाँ न विधि-विधान का बन्धन होता है न ऐश्वर्य का आकर्षण। भगवान् अपने स्वजन होते हैं और स्वजन के समान ही उनमें सहज स्नेह होता है। भाव-भेद से यह पाँच प्रकार की है— शान्तभाव, दास्यभाव, सख्यभाव, वात्सल्यभाव और मधुरभाव। यह भगवान् में अत्यन्त अनुराग होने पर सबसे पीछे होती है। पहले तो ऐश्वर्य दृष्टि से ही भगवान् की भक्ति करनी चाहिए। जो आरम्भ से ही माधुर्य भक्ति करना चाहते हैं वे तो प्रायः संसार की ओर ही आकृष्ट हो जाते हैं। वे न तो माधुर्य को समझ सकते हैं और न उनका कल्याण ही होता है। माधुर्य तो शुद्ध प्रेम है। यह तो अनिर्वचीनय है—‘अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्’। वास्तव में तो यह भावभक्ति भी शुद्ध माधुर्य नहीं है। यह तो माधुर्य की साधन हैं। प्रेम में कोई बड़ा-छोटा नहीं होता। यदि ऐसी बात न होती तो गोपियाँ उनके कैसे गुलचा लगातीं और उन्हें नाँच नचातीं। वहाँ शुद्ध आत्मीयता रहती है, सुन्दर-असुन्दर दृष्टि भी नहीं रहती। कहा भी है—

**असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा**

**गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।**

**द्वेषी मयि स्यात्करुणाम्बुधिर्वा**

**कृष्णः सः एवाद्य गतिर्ममायम्॥**

**प्रश्न—** यह तो सगुण उपासना की बात हुई, निर्गुण उपासना किस प्रकार की जाती है?

**उत्तर—** यह प्रसंग तो बहुत बड़ा है, परन्तु मैं सूक्ष्म रूप से कहता हूँ। सुनो, घट-पट को अपने से अलग देखने पर बीच में जो संधि है वह तो स्थूल है। इसे स्थूल आकाश, भूताकाश या महाकाश कह सकते हैं। किन्तु जब नेत्र बन्द करके मनोराज्य करते हैं तो वहाँ



मानस सृष्टि दिखायी देती है। उस सृष्टि और मन के बीच में जो सन्धि है वह चित्ताकाश है। यह प्रतीत नहीं होता, अनुभव में आता है। उसमें स्थित होना ही निर्गुण उपासना है। इस उपासना को बोधवान् ही कर सकते हैं। अन्य निर्गुण उपासक तो अधिकतर स्थूल आकाश में ही अटक जाते हैं।

इसी प्रकार जाग्रत् भाव है और सुषुप्ति अभाव है इन दोनों की बीच की जो स्थिति है वह संधि है। संधि का जो साक्षी है वही स्वरूप है। संधि निर्विकल्प अवस्था है और साक्षी निर्विकल्प स्वरूप है। सन्धि स्वरूप नहीं है, वह तो निर्गुण वृत्ति है। जब घटाकार-पटाकार वृत्तियाँ होती हैं, तो ये 'सगुण वृत्ति' है और इन दोनों के बीच में निर्गुण वृत्ति रहती है। यह विषय अभ्यास का है, विचार का नहीं। श्री वशिष्ठ जी कहते हैं—

निद्रादौ जागरस्यान्ते यो भाव उपजायते।  
तं भावं भावयन् राम सदा तिष्ठ गतव्यथः॥<sup>१</sup>

अथवा—

लयविक्षेपयोः सन्धौ मनस्तत्र निरामयम्।  
सा सन्धिः साधिता येन स मुक्तो नात्र संशयः॥<sup>२</sup>

किन्तु यह सब निर्गुणोपासना है, आत्मा तो चिदाकाश है।  
प्रश्न— स्वरूप को आकाश क्यों कहते हैं?

उत्तर— आकाश उसे कहते हैं जो सबको अवकाश दे। अर्थात् जिसमें सब रहें। आकाशादि जितना प्रपञ्च है वह स्वरूप के अन्तर्गत है, इसलिये उसे चिदाकाश कहते हैं।

प्रश्न— प्रेमी के क्या लक्षण हैं?

१. निद्रा के आरम्भ में और जागृति के अन्त में जो भाव रहता है, हे रामजी! उस भाव की ही भावना करते हुए निर्द्वन्द्व होकर रहो।
२. लय और विक्षेप की सन्धि में मन निर्विकार रहता है। जिसने उस सन्धि को साध लिया वह मुक्त ही है, इसमें सन्देह नहीं।



नयनप्रीतिः प्रथमं चिन्तासङ्गस्ततोऽथ संकल्पः।  
जागरणं कृशता चाप्यरतिर्लज्जापरित्यागः उन्मादमूर्च्छामृत्युः॥

अर्थात् पहले नेत्रों में प्रीति होती है, फिर प्रियतम का चिन्तन और दूसरों से असंगतता हो जाती है, तदन्तर प्रियतम सम्बन्धी संकल्प-विकल्प होने लगते हैं, नींद नहीं आती, शरीर कृश हो जाता है, विषयों में अरति हो जाती है, लज्जा छूट जाती है, पागल-सा हो जाता है, मूर्च्छा आने लगती है, यहाँ तक कि मृत्यु भी हो जाती है।

फारसी वालों ने प्रेमी के लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं—  
आहे सदर् रंगे ज़र्दो चश्मे तर।

इन्तज़ारी बेकरारी बेसबर॥  
कमखुर्दनो कमगुफ्तनो ख्वाबेहराम।

आशिकारां नौ निशाँ बाशद पिसर॥

हे पुत्र! प्रेमियों के ये नौ चिह्न हैं— ठण्डी आँहें, पीला रङ्ग, सजल नयन, प्रतीक्षा, बेचैनी, असन्तोष, मिताहार, मितभाषण और नींद न आना।

प्रश्न— भक्ति का स्वरूप क्या है?

उत्तर— केवल भक्त और भगवान् रह जायँ तथा सृष्टि का अत्यन्ताभाव हो जाय—यही भक्ति का स्वरूप है।

प्रश्न— प्रेम बड़ा है या ज्ञान?

उत्तर— साधक दो प्रकार के होते हैं—हृदय-प्रधान और मस्तिष्क-प्रधान। हृदय-प्रधान के लिये प्रेम सुखसाध्य है और मस्तिष्क-प्रधान के लिये विचार श्रेयस्कर है।

प्रश्न— प्रेम किस प्रकार करना चाहिये?

उत्तर— प्रेम, योग और भोग के स्कूल नहीं होते। ये किसी के सिखाने की अपेक्षा नहीं रखते। ये स्वयं स्वभाव से ही प्राप्त होते हैं। प्रेम करने का कोई समय भी नहीं है और न इसकी कोई विधि है। केवल



निरन्तर स्मरण करते रहने तथा ईर्ष्या, घृणा, भय, लज्जा, कुल, शील, जाति और मर्यादा इन आठ विघ्नों से बचते रहने पर भगवान् की कृपा से प्रेम की प्राप्ति होती है। जार स्त्री जैसे परपुरुष का चिन्तन करती रहती है उसी प्रकार सब काम करते हुए स्नेहपूर्वक भगवान् का निरन्तर चिन्तन करता रहे।

**प्रश्न—** सकाम और निष्काम प्रेम में क्या अन्तर है?

**उत्तर—** भगवान् से कुछ चाहना सकाम प्रेम है और केवल भगवान् को चाहना निष्काम प्रेम है।

**प्रश्न—** प्रेम और ज्ञान में क्या अन्तर है?

**उत्तर—** प्रेम और ज्ञान दोनों साधन सोपाधिक भी हैं और निरुपाधिक भी। दोनों अद्वितीय हैं और दोनों ही अनिर्वचनीय भी हैं। परन्तु प्रेम होने से देहाध्यास स्वयं छूट जाता है और ज्ञान देहाध्यासन रहने पर ही होता है। देश-काल का अनुभव जिज्ञासु तो करते हैं पर ज्ञानी और प्रेमी नहीं करते। भक्त ध्यान से देश-काल को तोड़ता है और ज्ञानी विचार से। अतः सिद्धान्त दोनों का एक ही है, ज्ञानी आरम्भ में ही अपने को ब्रह्म कहता है किन्तु भक्त अन्त में अपने को खोकर अपने इष्ट को ही रखता है। वात एक ही है। प्रेम से माया के विक्षेपदोष की निवृत्ति होती है और ज्ञान से आवरण की, इसलिये दोनों ही की आवश्यकता है। प्रेम, ज्ञानी और भक्त दोनों ही के लिये आवश्यक है। अन्तर केवल यही है कि भक्त में संस्कार-रूप से द्वैत रहता है और वह भगवान् से प्रेम करता है तथा ज्ञानी की अद्वैत दृष्टि होती है और वह आत्मरति करता है। अन्तःकरण का धर्म मनन चिन्तन है और शरीर के रहने तक अन्तःकरण रहेगा ही। यदि भगवान् या आत्मा का चिन्तन नहीं किया जायगा तो विषय चिन्तन होगा उससे रजोगुण-तमोगुण की वृद्धि होगी। इसलिये भक्ति करना दोनों ही के लिये आवश्यक है।

**संगति—** अब अगले श्लोक में भगवान् यह कहते हैं कि उन्हें प्रेमपूर्वक जो कुछ अर्पण किया जाता है उसी को वे सप्रेम स्वीकार कर लेते हैं—



पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।  
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि

३०९

भावार्थ— भक्त मुझे भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल जो भी  
प्रयतात्मनः॥२६॥

अर्पण करता है उस शुद्धान्तःकरण की उस भेंट की हुई वस्तु को मैं खा  
लेता हूँ।

व्याख्या— यह श्लोक सगुण पासना परक है। जो भगवान् का  
अनन्य भक्त है, जिसे सर्वत्र भगवान् ही भगवान् दीखते हैं, वह जो  
कुछ भी अर्पण करता है भगवान् उसे खाते हैं अर्थात् दृष्टि से भोग  
लगा लेते हैं। अथवा यह जिस इन्द्रिय का विषय हो उसी से उसका  
उपभोग करते हैं। अथवा अधिक प्रेमवश पत्र-पुष्पादि और जूठा भी  
खा लेते हैं। जैसे विदुरानी के केले के छिलके, शबरी के बेर और ग्वाल  
बालों का उच्छिष्ट बड़े आनन्द से खा गये। यह भाव राज्य ऐसा ही है।

संगति— अब जिसको भगवान् और संसार अथवा भगवान्  
और माया दोनों दीखते हैं, उसके लिये व्यापक निराकार स्वरूप की  
उपासना बतलाते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥२७॥

भावार्थ— हे कुन्तिनन्दन! तुम जो करते, जो खाते, जो हवन  
करते, जो दान देते और जो भी तप करते हो वह सब मुझे अर्पित  
कर दो।

व्याख्या— जो कुछ शुभाशुभ हो रहा है सबको भगवान् की  
लीला देखो। संसार को नाटकवत् समझो। सब कुछ तो भगवान् को  
अर्पण कर दिया, अतः शरीर से जो कुछ हो रहा है उसे साक्षी होकर  
देखो।

भगवान् की वस्तु भगवान् को सौंपकर दृश्य का चिन्तन न  
करना ही संन्यास है, और जो ऐसा करता है वही मुक्तात्मा है।

संगति— यह समष्टि-साक्षी या निराकर की उपासना है।  
इसका क्या लाभ होगा, सो आगे बतलाते हैं—



शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।  
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥२८॥

भावार्थ— इस प्रकार संन्यास से युक्त चित्त हो तुम शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धन से छूट जाओगे और मुक्त होकर मुझे ही प्राप्त होंगे।

व्याख्या— संन्यासयोगयुक्तात्मा वही है जो क्रिया मात्र भगवान् को अर्पण कर देता है। अथवा सबको अध्यस्त देखता है। जिसकी ऐसी दृष्टि है कि सम्पूर्ण दृश्य मुझ से पृथक् है और उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार उसका दृश्य में तनिक भी राग नहीं रहता। तभी वह कर्मों के फलरूप बन्धन से छूट सकता है और मुझे प्राप्त कर सकता है, कोई अन्य नहीं।

यहाँ 'विमुक्त' शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि मुक्त (जैसे आर्यसमाजियों की मुक्ति वाले) तो लौट आते हैं, किन्तु विमुक्त कभी नहीं लौटते; क्योंकि उनकी परब्रह्म से एकता हो जाती है।

संगति— अब अगले श्लोक में भगवान् अपनी समता दिखलाते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥२९॥

भावार्थ— मैं सब भूतों में समान हूँ। मेरा न कोई द्वेष्य (द्वेष्यके योग) है, न प्रिय है। किन्तु जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझमें रहते हैं और मैं उनमें रहता हूँ।

व्याख्या— यहाँ भगवान् अपनी समता व्यक्त करते हुए भक्तों के साथ अपनी अभिन्नता प्रकट करते हैं। भगवान् तो शत्रुओं का भी मङ्गल करते हैं। उनका कोई शत्रु या मित्र नहीं है, किन्तु भक्तों के शत्रु ही उनके शत्रु हैं और भक्तों के मित्र ही उनके मित्र हैं। इसीसे वे सम और निर्विकार होने पर भी विषम और विकारी से जान पड़ते हैं।

प्रश्न— भगवान् को दयालु और न्यायकारी कहा जाता है। न्यायकारी तो अपराधी के प्रति दया नहीं कर सकता। फिर भगवान् इन विरुद्ध धर्मों का निर्वाह कैसे करते हैं?



उत्तर— दया भगवान् का गुण नहीं स्वभाव है। जैसे प्रकाश सूर्य का स्वभाव ही है। परन्तु बादल होने पर वह ढक जाता है और उससे शीत एवं अंधकार का दुःख दूर नहीं होता। इसी प्रकार भगवान् की दया में कभी कोई कमी नहीं आती। किन्तु बादल रूप विषयासक्ति के कारण उसकी अनुभूति नहीं होती। जब भगवद्भक्तिरूप वायु से विषयासक्तिरूप बादल हट जाते हैं तब उसकी अनुभूति होने लगती है। अतः भगवान् स्वभावतः सम और दयामय होने पर भी लोगों को अपने विभिन्न आचरणों के कारण उनके अनुसार विषम और न्यायकारी जान पड़ते हैं। इससे उनके स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता।

‘सम’ शब्द के अनेक अर्थ हैं। किन्तु यहाँ भगवान् ही सम हैं। जिस प्रकार दीपक शुभाशुभ अनेकों क्रियाएँ होने पर भी उनसे अलिप्त और सम रहता है, विषमता उसके विषयों में ही रहती है तथा विषयों के न रहने पर वह स्वयं सम रह जाता है, इसी प्रकार विषयों के त्यागने पर जीव भी सम रह जाता है। परमात्मा तो सम है ही, अतः शुद्ध साक्षी की परमात्मा से एकता हो जाती है। यही भक्त और भगवान् का मिलन है। इसीसे भगवान् कहते हैं कि वह मुझमें है और मैं उसमें हूँ।

संगति—अगले श्लोक में भगवान् भजन का प्रभाव दिखलाते हैं। अब अन्त तक यही प्रसंग चलेगा।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥३०॥

भावार्थ— यदि कोई अत्यन्त दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरा भजन करता है, तो उसे साधु ही मानना चाहिए, क्योंकि उसने यथार्थ निश्चय कर लिया है।

व्याख्या— पहले जो पापी होते हैं वे धीरे-धीरे भजन के प्रभाव से पुण्यात्मा हो जाते हैं; जैसे बाल्मीकि, बिल्वमंगल इत्यादि। वास्तव में दुराचारी ही को भजन करने की झूठे को ही सत्यभाषण की और अज्ञानी को ही शास्त्राध्ययन की आवश्यकता है। भजन इस



प्रकार करना चाहिये कि इष्टदेव के अतिरिक्त और किसी का सहारा न रहे। जैसे लड़की ससुराल में सेवा तो सबकी करती है परन्तु प्रेम तो निरन्तर पति ही में रहता है। इसी प्रकार जिसे सारा संसार प्रतीत होते हुए भी गन्धर्वनगरवत् जान पड़े, सबके बीच में रहते हुए भी कामादि विकार न हों और निरन्तर आत्माकार वृत्ति रहे, उसे साधु ही समझना चाहिए। वह तत्काल धर्मात्मा हो जाता है और परम शान्ति को प्राप्त होता है। यही बात अगले श्लोक में बतलाते हैं।

**क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।**

**कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥**

**भावार्थ—** वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और चिरस्थायिनी शान्ति प्राप्त करता है। कौन्तेय! तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।

**व्याख्या—** विषयी पुरुष का विषयों में राग होता है। भगवत्कृपा से वही राग विषयों से छूटकर भगवान् में हो जाता है। इसलिये उसका जीवन पलटने में देर नहीं लगती। जिसमें राग हो ही नहीं वह सूखा ढूँठ भगवदनुरागी भी कैसे होगा।

**प्रश्न—** प्रतिज्ञा तो भगवान् को स्वयं करनी चाहिए थी, वे अर्जुन से क्यों करा रहे हैं?

**उत्तर—** भगवान् को तो कोई शङ्का नहीं थी, वे क्यों प्रतिज्ञा करते। इसके सिवा भगवान् तो भक्त के लिये अपनी प्रतिज्ञा तोड़ भी देते हैं, किन्तु भक्त की बात वे व्यर्थ नहीं होने देते।

**संगति—** अगले श्लोक में भगवान् बतलाते हैं कि उनके भजन के सभी अधिकारी हैं—

**मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।**

**स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥**

**भावार्थ—** हे पार्थ! मेरा आश्रय लेने पर तो स्त्री वैश्य, शूद्र और जो पापयोनि वाले हैं वे भी परमगति को प्राप्त हो जाते हैं।



**व्याख्या—** चारों आचार्यों का विचार है स्त्री, वैश्य, शूद्र और भी यही है। परन्तु श्री शंकराचार्यजी का मत है कि भगवान् ने स्त्री, वैश्य और शूद्र को ही पाप-योनि कहा है। यह उनका पक्षपात ही जान पड़ता है, क्योंकि यदि स्त्री पाप-योनि है तो उसके हाथ का भोजन नहीं करना चाहिये, जबकि सभी करते हैं। तथा यज्ञ में भाग लेने का उसका अधिकार नहीं होना चाहिये, जबकि स्त्री के बिना कोई यज्ञ सम्पन्न ही नहीं होता। अतः स्त्री पाप-योनि नहीं हो सकती। पापयोनि तो वे हैं कि जिनकी स्वभाव से ही पाप में प्रवृत्ति होती है। किन्तु पाप-योनियों के साथ स्त्री को गिनाया इसलिये है कि उसमें लोभ, अशुद्धि और काम की अधिकता होती है। स्त्री की सब इच्छाएँ नष्ट हो जाने पर भी उसे पति-सुख की कामना बनी रहती है। साथ ही उसमें लोभ की मात्रा भी अधिक होती है। थोड़े से प्रलोभन से भी वह नीचसे नीच काम करने को तैयार हो जाती है।

वैश्य को पापयोनियों के साथ इसलिये गिनाया है कि उसका कर्म वाणिज्य है। वह वाणिज्य में झूठ बोलता है और व्याज लेता है। लोभ की इनमें प्रधानता होती है। इसी से शूद्र के साथ ही वैश्य को गिनाया है। वास्तव में यह शूद्र के समकक्ष नहीं है, क्योंकि शूद्र को तो यज्ञ मण्डप में जाने का भी अधिकार नहीं है और वैश्य यज्ञ कर सकता है। शूद्र दो प्रकार के होते हैं—सत् शूद्र और असत् शूद्र। ग्वाले, नाई, अहीर आदि सत् शूद्र हैं तथा चमार-धोबी आदि असत् शूद्र हैं, इन्हीं को अन्त्यज भी कहते हैं। शूद्रों में काम, क्रोध, लोभ आदि अधिक होते हैं तथा रहन-सहन में अपवित्रता रहती है। किन्तु इनसे भी निकृष्ट पापयोनि हैं। पापयोनियों की गणना करते हुए भगवदाश्रय से उनके उद्धार की बात श्रीमद्भागवत में भी इस श्लोक द्वारा कही गयी है—

किरातहूणान्धपुलिन्दपुल्कषा आभीरकंका यवनाः खशादयः।  
येन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥



अर्थात् जिन जगदुत्पादक भगवान् की शरण लेने पर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुलकष, आभीर, कंक, खश तथा अन्यान्य पापी भी शुद्ध हो जाते हैं, उनको नमस्कार है।

इन सभी को पाप योनियों के साथ इसलिये गिनाया है कि ये सब कामादि दोषों के बशीभूत होने पर भी यदि मेरा आश्रय लेते हैं तो शुद्ध हो जाते हैं। अर्थात् अपने स्वाभाविक दोषों से छूटकर मुझे प्राप्त कर लेते हैं। अतः जीव के उद्धार में या साधुता की प्राप्ति में भगवदाश्रय की ही प्रधानता है, जाति आदि की नहीं।

**संगति—** इस प्रकार परमगति की प्राप्ति में भजन की अनिवार्यता दिखाकर अगले श्लोक में भी इसी की पुष्टि करते हैं—

**किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।**

**अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥३३॥**

**भावार्थ—** फिर पुण्यकर्मा ब्राह्मण और राजर्षि भक्तों के विषय में तो कहना ही क्या है। अतः इस अनित्य और दुःखरूप मनुष्य लोक में आकर मेरा भजन करो।

**व्याख्या—** ब्राह्मण तो स्वभाव से ही निर्वासनिक होते हैं। भजन उनका स्वभाव होता है। वे पुण्यस्वरूप ही हैं। 'भक्त' शब्द राजर्षियों के लिये है। पूर्वकाल में बोध की ब्राह्मणों में और भक्ति की क्षत्रियों में प्रधानता होती थी। वैश्य तो अब भक्ति करने लगे हैं। अतः ब्राह्मण और क्षत्रिय यदि भगवद् आश्रित हों तो उनकी मुक्ति होने में तो किसी प्रकार सन्देह हो ही नहीं सकता। इस प्रकार भगवान् यहाँ दुःखरूप संसार की अनित्यता का प्रतिपादन करते हुए मनुष्यमात्र को परमपद की प्राप्ति के लिये निरन्तर भजन की आवश्यकता बतला रहे हैं।

**मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।**

**मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥३४॥**

**भावार्थ—** मुझमें मन लगाओ, मेरे भक्त होओ, मेरा भजन करो और मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार मेरे परायण हुए मुझमें युक्त होकर मुझे ही प्राप्त हो जाओगे।



व्याख्या— जिसका अन्तःकरण शुद्ध है उस सत्त्वगुणप्रधान उत्तम अधिकारी के लिए कहा है— 'मन्मनाभव' अर्थात् मेरा ध्यान करो। रजोगुण-प्रधान मध्यम अधिकारी के लिये कहा है— 'मद्भक्तो भव'—मेरे भक्त हो जाओ। अर्थात् भगवान् और भगवद्भक्तों की सेवा तथा भगवदर्पण बुद्धि से कर्म करो। कनिष्ठ अधिकारी के लिये कहा है— 'मद्याजी भव' अर्थात् मेरे लिये यज्ञादि निष्काम कर्म करो। और चौथे कनिष्ठतर अधिकारी के लिये कहते हैं— 'मां नमस्कुरु'। अर्थात् नामजप करते हुए भक्तिपूर्वक मुझे नमस्कार करो।

चार वर्ण हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। चार ही आश्रम हैं—संन्यास, वानप्रस्थ, गृहस्थ और ब्रह्मचर्य। चार ही युग हैं—सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलि। तथा चार ही साधन हैं—ध्यान, भक्ति, यज्ञ और जप। भगवान् सबको यथाधिकार साधन करने के लिये कह रहे हैं। वे ब्राह्मण के लिये ध्यान, क्षत्रिय के लिये यज्ञादि कर्म वैश्य के लिये भक्ति और शूद्र के लिये जप बतला रहे हैं। अथवा संन्यासी के लिये ध्यान, वानप्रस्थ के लिये भक्ति, गृहस्थ के लिये यज्ञादि कर्म और ब्रह्मचारी के लिये जप समझना चाहिये। इसी प्रकार सतयुग में ध्यान, त्रेता में यज्ञ, द्वापर में पूजन और कलियुग में जप एवं कीर्तन की प्रधानता है।

गीता में चार साधन बताये हैं—सकाम कर्म, सकाम उपासना, निष्काम कर्म और निष्काम उपासना। जब तक स्त्री-पुत्रादि की कामना हो सकाम कर्म और सकाम उपासना करे। और जब शान्ति की इच्छा हो तब निष्काम कर्म और निष्काम उपासना करे। इन्हीं के द्वारा क्रमशः ज्ञान और प्रेम की प्राप्ति होकर परमपद की प्राप्ति हो जायगी।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां  
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे  
राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः॥९॥



ॐ

श्री परमात्मने नमः  
श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

## अथ दशमोऽध्यायः

**संगति—** पिछले अध्याय में भगवान् ने अपनी भक्ति के स्वरूप, उसकी प्राप्ति के उपाय और अधिकारी का प्रतिपादन किया अब इस अध्याय में अपने ऐश्वर्य का वर्णन करेंगे। विभूति उनका ऐश्वर्य ही है। तात्पर्य यह है कि नवम अध्याय में ज्ञान, भक्ति और कर्म सबका प्रतिपादन कर अन्त में भगवान् ने 'मत्परायणः' अपने परायण होने को कहा—अब इस अध्याय के आरम्भ में फिर उसी प्रसंग को दुहराते हैं—

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

**भावार्थ—** श्री भगवान् बोले—महाबाहो! तुम फिर भी मेरा यह श्रेष्ठ वचन सुनो, जो कि मैं अपने से प्रेम करने वाले तुमसे तुम्हारे हित की कामना से कहूँगा।

**व्याख्या—** भगवान् ने अर्जुन को 'महाबाहो' कहकर सम्बोधन किया है। इसका भाव यह है कि तुम धीर-वीर हो इसलिये मेरा उपदेश ग्रहण करने में समर्थ हो।

**प्रश्न—** भगवान् ने फिर भी वही बात कहने को क्यों कहा? क्या यह पुनरुक्ति दोष न होगा।

**उत्तर—** यह पुनरुक्ति दोष नहीं है, क्योंकि यह विषय कठिन है। अतः भगवान् इसलिये दुहरा रहे हैं कि सम्भव है, यह बात अर्जुन समझ न सका हो तो दुबारा कहने से वह इसे हृदयंगम कर सकेगा।

**प्रश्न—** शास्त्र का यह नियम है कि बिना पूछे या अन्याय से पूछने पर किसी से कुछ न कहे—



नापृष्टः कस्य-चिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।  
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्॥

३०९

तब भगवान् बिना पूछे ही अर्जुन से क्यों कह रहे हैं?

उत्तर— यह तो ठीक है, परन्तु जो सर्वस्व समर्पण करके

शरणापन्न हो चुका हो और अपना अत्यन्त प्रिय हो उससे तो बिना पूछे भी कहना चाहिए, क्योंकि यह नियम अपने प्रेमियों के लिए नहीं है। श्रीगोसाई जी कहते हैं—

गूढ़ं तु तत्त्व न साधु दुरावहिं।

आरत अधिकारी जहं पावहिं॥

अर्जुन तो भगवान् का प्रिय सखा है और उनका शिष्यत्व भी स्वीकार कर चुका है, वह तत्त्व जानने के लिए बेचैन है, इसलिये अधिकारी और आर्त भी है। अतः भगवान् पहले दो श्लोकों में अपने ऐश्वर्य की महिमा बतला रहे हैं—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।

अहमादिहि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥२॥

भावार्थ—मेरे जन्म के रहस्य को देवता और महर्षि भी नहीं जानते, क्योंकि मैं ही सब प्रकार देवता और महर्षियों का आदि कारण हूँ।

व्याख्या— देवता इसलिये नहीं जानते कि स्वर्ग भोग-भूमि है और भोग प्रधान होने के कारण वे भजन नहीं कर सकते। फिर बिना भजन किये वे भगवदवतार का रहस्य कैसे जान सकते हैं। महर्षि लोग भी कर्मकाण्ड में लगे रहते हैं, अतः वे भी इसे नहीं जानते—‘यत्कर्म न विजानाति’। अतः भक्त के अतिरिक्त भगवान् के रहस्य को कोई नहीं जान सकता।

भगवान् शंकराचार्य ने भी यही अर्थ किया है कि केवल भक्त ही मुझे जान सकता है। आगे श्लोक १४ में भी कहते हैं कि ‘नहि ते भगवन् व्यक्तिर्विदुर्देवा न दानवाः।’ भगवान् के स्वरूप को न जानने का कारण यह भी है कि जिसका कोई निमित्त या उपादान कारण होता है वही वस्तु जानी जा सकती है। भगवान् का अवतार तो स्वेच्छा से



होता है और वे स्वयं ही सबके आदि-कारण हैं। इसके सिवा सबके द्रष्टा और अधिष्ठान होने के कारण भी वह किसी के ज्ञेय नहीं हो सकते। स्वप्न-द्रष्टा को कोई स्वप्न-पुरुष कैसे जान सकता है। इसलिये भी उन्हें कोई नहीं जानता।

**प्रश्न—** यदि भगवान् आदि कारण होने के कारण देवता और महर्षियों के ज्ञेय नहीं हैं तो भक्तों के भी तो वे आदि कारण हैं, वे भी कैसे उनकी महिमा जान सकते हैं?

**उत्तर—** भगवान् की तरह भक्त भी अनादि हैं। भक्तों के लिये ही तो उनका अवतार होता है। अतः वे ही उनके अवतार का रहस्य जान सकते हैं। भक्तों से भगवान् की आत्मीयता है, इसलिये उनसे वे कोई दुराव नहीं रखते।

**यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।**

**असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥३॥**

**भावार्थ—** जो पुरुष मुझे अजन्मा, अनादि और सम्पूर्ण 'लोकों का महेश्वर जानता है वह मनुष्यों में असंमूढ (ज्ञानी) है और वह सब पापों से मुक्त हो जाता है।

**व्याख्या—** यह श्लोक भगवान् के सगुण-निर्गुण दोनों स्वरूपों का प्रतिपादन करता है। 'अज' और 'अनादि' पद निर्गुण रूप का प्रतिपादन करते हैं और 'महेश्वर' पद उनके सगुण रूप का मैं ब्रह्मरूप में ब्रह्म हूँ, रामरूप में राम और कृष्ण रूप में कृष्ण। परन्तु इन अनेकों रूपों में भी मुझ एक को ही जो मानता है वह सब बन्धनों से छूट जाता है। और जो मेरे वास्तविक स्वरूप को न जानकर मुझे केवल वसुदेवनन्दन ही मानते हैं वे मूढ़ हैं और बन्धन में पड़े रहते हैं। असंमूढ़ या ज्ञानी तो वही है जो मेरे तात्त्विक स्वरूप को जानता है। भगवान् के सच्चिदानन्द स्वरूप को तो तत्त्ववेत्ता ही जान सकता है, क्योंकि वह आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं देखता। इसलिए सम्पूर्ण मनुष्यों में भगवान् ने उसे ही असंमूढ़ कहा है और वही सम्पूर्ण पाप या बन्धनों से मुक्त होता है?



**प्रश्न—** दूसरे श्लोक में तो कहा है कि मुझे देवता और महर्षि भी नहीं जानते और यहाँ अपने को जानने पर ही पापों से मुक्ति बतलायी है। इन दोनों वाक्यों की संगति कैसे लगेगी।

**उत्तर—** इसका अर्थ, जैसा कि पिछले श्लोक की व्याख्या में किया है, यही समझना चाहिए कि मेरे भक्त के अतिरिक्त मुझे कोई नहीं जानता।

**प्रश्न—** इस श्लोक में तो भक्त का कोई उल्लेख है नहीं।

**उत्तर—** इस श्लोक में न सही, अन्यत्र तो कई स्थानों में ऐसे प्रमाण मिलते हैं, यथा—‘भक्त्या मामभिजानाति’ (१८/५) ‘भक्त्या त्वनन्यया शक्य.....ज्ञातुम्’ (११/५३) इत्यादि।

**संगति—** आगे के चार श्लोकों में भगवान् अपनी विभूतियों का उल्लेख करते हैं—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।

सुखं दुखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥४॥

अहिंसासमतातुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥५॥

**भावार्थ—** बुद्धि (विवेकवती बुद्धि) ज्ञान, असंमोह (मोहरहित होना), क्षमा, सत्य, दम (इन्द्रिय-निग्रह), शम, सुख, दुःख, उत्पत्ति, नाश, भय, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, (एकाग्रता) दान (क्षमादान आदि) यश और अपयश—ये भूतों के अलग-अलग जितने भाव हैं मुझसे ही होते हैं। अर्थात् मेरी योगमाया से ही होते हैं।

**व्याख्या—** यहाँ सृष्टि की उत्पत्ति प्रकृति से नहीं भगवान् से ही बताया है। और जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है वह उसी का स्वरूप होता है। जहाँ ऐसा माना जाय कि भगवान् (पुरुष) की सत्ता से प्रकृति सृष्टि-रचना करती है वहाँ सांख्य और योग का सिद्धान्त समझना चाहिये। किन्तु भगवान् से तो सृष्टि उसी प्रकार होती है जैसे स्वप्नद्रष्टा से स्वप्न। वहाँ स्वप्न तो केवल प्रतीतिमात्र है, वास्तव में तो स्वप्नद्रष्टा



ही है। इसी प्रकार आत्मा से भिन्न जगत् नहीं है। वहाँ तो यह दिखलाया है कि ज्ञान और अज्ञान भी भगवान् से भिन्न नहीं है। यही बात भगवान् ने अध्याय ९ श्लोक १९ में कही है तथा अध्याय १५ श्लोक १५ में भी कहेंगे—‘मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च’ इत्यादि।

**महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।**

**मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजा ॥६॥**

**भावार्थ—** सप्त महर्षि, (सनकादि) चार पूर्व पुरुष और (चौदह) मनु— ये मेरी सत्ता से मन से ही उत्पन्न हुए हैं, जिनसे कि यह सारी प्रजा उत्पन्न हुई है।

**व्याख्या—** अर्थात् यह मेरी ही मानस सृष्टि है, मुझमें ही स्थित है और मुझमें ही लीन हो जायगी। भिन्न-भिन्न प्रतीत होने पर भी ये मुझसे अभिन्न हैं, क्योंकि पूर्ण वस्तु तो एक ही हो सकती है, दो भी पूर्ण नहीं हो सकतीं, क्योंकि दो में देश काल परिच्छेद न होने पर भी वस्तु-परिच्छेद हो ही जायगा। अतः दोनों ही परिच्छिन्न सिद्ध होंगी।

**प्रश्न—** सप्त महर्षि कौन-कौन से हैं?

**उत्तर—** भिन्न-भिन्न मन्वन्तरों में भिन्न-भिन्न सप्तर्षि होते हैं। इस मन्वन्तर के सप्तर्षि ये हैं—मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य पुलह, क्रतु और वसिष्ठा।

**एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।**

**सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥**

**भावार्थ—** जो मेरे इस विभूतियोग को तत्त्वतः जानता है वह निश्चल योग से युक्त होता है, इसमें संशय नहीं।

**व्याख्या—** भगवान् को इस सम्पूर्ण प्रपञ्च का अधिष्ठान जानना, अर्थात् सृष्टि नहीं है केवल भगवत्सत्ता ही है—ऐसा जानना ही निश्चल योग है। अथवा सम्पूर्ण जगत् को भगवान् का स्वरूप जानना और अपने को उसका साक्षीमात्र उससे पृथक् देखना। अथवा



जैसे स्वप्न-पुरुष स्वप्न-द्रष्टा से भिन्न हैं ही नहीं, केवल प्रतीतिमात्र हैं, इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपञ्च अपने से भिन्न है ही नहीं—ऐसा जानना ही तत्त्व से जानना है और यही निश्चल योग है।

**संगति—** इस प्रकार भगवान् ने अपनी विभूतियों का उल्लेख किया। अब अगले दो श्लोकों में अपने भजन की विधि बतलाते हैं—  
**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।**

**इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥८॥**

**भावार्थ—** मैं ही सबका उत्पत्ति-स्थान हूँ और मुझसे ही सबकी प्रवृत्ति होती है। ऐसा निश्चय करके विवेकी पुरुष भावपूर्वक मेरा भजन करते हैं।

**व्याख्या—** विवेकी पुरुष 'सब मेरा ही स्वरूप है' ऐसा मानकर खाते-पीते, चलते-फिरते, जो भी शुभाशुभ कर्म करता है सर्व मेरी बुद्धि से मेरे लिये ही करता है। उसकी हर समय आत्माकार वृत्ति रहती है—यही उसका भजन है। 'बुधाः' शब्द से यहाँ अपरोक्ष ज्ञानी समझने चाहिए। किन्तु ऐसा मानने से शुद्ध ब्रह्म से भेद की आशंका होगी। इसलिये यह श्लोक भक्तिपरक समझना चाहिए। अथवा इसे ज्ञानोत्तर भक्ति भी कह सकते हैं। अथवा मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ, इसलिए सब मेरा ही स्वरूप है— ऐसी भावना से युक्त होकर विवेकी मेरा भजन करते हैं। ऐसी भावना विवेकी की ही हो सकती है। मूर्ख की तो हो नहीं सकती। यही सर्वभाव है, इसका १५ वें अध्याय के १९ वें श्लोक में उल्लेख किया जायगा। इसी भाव से गोस्वामी श्री तुलसीदासजी कहते हैं—

**अस विचारि पंडित मोहिं भजहीं।**

**पाये हूँ ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥**

**संगति—** अगला श्लोक भक्ति की सिद्धावस्था का है—  
**मच्चित्ता मदगतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।**  
**कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति चरमन्ति च॥९॥**



**भावार्थ—** मुझमें ही चित्त और मुझमें ही प्राण लगाने वाले, भक्तजन परस्पर मेरा ही विवेचन और मेरा ही कथन करते हुए सर्वदा सन्तुष्ट होते और स्मरण करते हैं।

**व्याख्या—** जिनका चित्त भगवान् के चित्त में मिल गया है, वे मच्चित्त हैं और जिनके प्राण भगवान् के प्राणों में मिल गये हैं वे मद्गतप्राण हैं। अर्थात् जिन्होंने निरन्तर अपने चित्त और प्राणों को भगवान् में लगा रखा है। अथवा 'मच्चिताः' से जिसकी ज्ञानेन्द्रियाँ और 'मद्गतप्राणाः' से जिनकी कर्मेन्द्रियाँ भगवान् में अर्पित हो गयी हैं ऐसे आपस में भगवान् का गुणानुवाद करते हुए सन्तुष्ट होते हैं और सर्वदा भगवान् में ही रमण करते हैं। निरन्तर इष्ट-चिन्तन ही रमण है।

इस श्लोक का ज्ञान-परक अर्थ इस प्रकार होगा कि वे बोधवान् परस्पर चर्चा करते हुए अपने अनुभव के अनुसार तत्त्व का विवेचन करके आत्मा में सन्तुष्ट रहते और निरन्तर आत्मा में ही रमण करते हैं। परन्तु वास्तव में यह प्रकरण भक्ति का ही है। जो भगवद्भक्ति से सन्तुष्ट है उसे ज्ञान की क्या आवश्यकता है। सम्पूर्ण गीता में यह तथा अध्याय ७ का २३ वाँ श्लोक शुद्ध भक्ति का प्रतिपादन करने वाले हैं। अन्यत्र तो ज्ञान के साधन रूप से ही भक्ति का प्रतिपादन हुआ है, परन्तु इन दो श्लोकों में भक्ति स्वतन्त्र है।

**संगति—** अगला श्लोक भी सगुण-भक्तिपरक है। इसमें जो 'बुद्धियोग' शब्द आया है उसका अर्थ तत्त्वज्ञान भी है और भगवदैश्वर्य का ज्ञान भी है।

**तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।**

**ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥१०॥**

**भावार्थ—** उन निरन्तर मुझमें लगे हुए और प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करने वालों को मैं बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं।

**व्याख्या—** जो ज्ञान की इच्छा से अन्य सब कामनाएँ छोड़ कर निरन्तर प्रीतिपूर्वक मेरे भजन में लगे हैं उन भक्तों को मैं बुद्धियोग



देता हूँ, जिससे वे मुझे निर्विशेष ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं। अपने अपने लक्ष्य के अनुसार भक्त दो कोटि के होते हैं। (१) भगवत्प्राप्ति की इच्छा वाले और (२) ज्ञान की इच्छा वाले। जो पहली कोटि वाले हैं उनके लिए बुद्धियोग देने का यह अर्थ है कि उन्हें मैं अपने स्वरूप का ज्ञान करा देता हूँ, जिससे वे जल-तरंगवत् सबको अभेदस्वरूप ही देखते हैं। दूसरी कोटि वालों के लिए बुद्धियोग का अर्थ है विवेकवती बुद्धि अर्थात् उन्हें दृढ़ बोध या सम्यक् ज्ञान करा देता हूँ। तब उन्हें ऐसा अनुभव होता है कि 'सर्वमिदमहञ्च वासुदेवः'—यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ। अर्थात् मेरे स्वरूप से भिन्न कुछ भी नहीं है।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥११॥

भावार्थ— उन भक्तों पर कृपा करने के लिए ही मैं आत्म स्वरूप ही उनके अज्ञानजनित अन्धकार को देदीप्यमान ज्ञान-दीपक से नष्ट कर देता हूँ।

व्याख्या— उन भक्तों के ऊपर कृपा करके मैं उनके अज्ञानजनित निद्रा, तन्द्रा और आलस्यादि दोषों को ज्ञान-दीप से नष्ट कर देता हूँ, रजोगुण तो उपासना से नष्ट हो जाता है, किन्तु निद्रा-तन्द्रा आदि तमोगुण की निवृत्ति अखण्ड ध्यान से होती है। जो व्यक्ति भोग, मोक्ष और सिद्धि तीनों की कामना को त्यागकर भजन करता है उसी का भजन प्रीतिपूर्वक माना जाता है। ऐसा प्रीतिपूर्वक भजन होने पर ही भगवान् बुद्धियोग देते हैं। गीता में ज्ञान की प्रधानता है, इसलिए यहाँ भक्ति को ज्ञान का साधन माना है। इस श्लोक में भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं कि मेरा भक्त अज्ञानी नहीं रहता, मैं उसे ज्ञान करा देता हूँ। यह ज्ञान घटज्ञान-पटज्ञान की तरह नहीं है, यह स्वयं प्रकाश ज्ञान है।

संगति— जब भगवान् का ऐश्वर्य सुनकर और उससे प्रभावित होकर अर्जुन भगवान् की स्तुति करता है और विस्तारपूर्वक अपनी विभूतियों का वर्णन करने की प्रार्थना करता है।



अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परम भवान्।  
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥१२॥  
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिनारदस्तथा।  
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥१३॥

भावार्थ— आप परब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं। सम्पूर्ण ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास आपको दिव्य एवं सनातन पुरुष, आदि देव, अजन्मा और विभु बतलाते हैं तथा आप स्वयं भी मुझसे ऐसा ही कह रहे हैं।

सर्वमेतदृतं मन्यं यन्मां वदसि केशव।  
न हि ते भगवत् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥१४॥

भावार्थ— हे केशव! आप जो कुछ कह रहे हैं, वह सब मैं सच मानता हूँ, क्योंकि आपके इस व्यक्तित्व (सगुण स्वरूप) को देवता (दैवी सम्पत्तिवाले) और दानव (आसुरी सम्पत्तिवाले) दोनों ही नहीं जानते।

व्याख्या— आप जो कुछ कह रहे हैं अर्थात् आपने आरम्भ से यहाँ तक जो भी कर्म, उपासना और ज्ञानादि का उपदेश दिया है, उस सबको मैं ठीक मानता हूँ। आपकी माया से तो स्वयं देवाधिदेव ब्रह्मा भी मोहित हो गये। वे भी आपको नहीं पहचान सके तो अन्य सामान्य पुरुष क्या जानेंगे। भक्त भले ही स्वीकार कर लें कि आप स्वयं देहधारी भगवान् हैं, ज्ञानी तो आपकी भगवत्ता को समझ नहीं सकते।

संगति— इसकी पुष्टि अगले श्लोक में करते हैं।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।  
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥१५॥

भावार्थ— हे पुरुषोत्तम! हे भूतभावन! हे भूतेश्वर! हे देवाधिदेव! हे जगत्पते! आप स्वयं ही अपने द्वारा अपने आपको जानते हैं।



**व्याख्या—** आपको कोई दूसरा नहीं जान सकता क्योंकि आप पुरुषों में श्रेष्ठ, भूतों की उत्पत्ति करने वाले, सम्पूर्ण भूतों के ईश्वर, देवताओं के भी देवता और सम्पूर्ण संसार के स्वामी हैं। आपको कोई नहीं जानता, क्योंकि फिर वह स्वयं नहीं रहता। 'सो जनहि जेहि देहु जनाई। जानत तुमहिं तुमहि ह्वै जाई॥'

आपको इसलिये भी कोई नहीं जानता, क्योंकि आपका स्वरूप ज्ञान का विषय नहीं है। आप निर्विशेष हैं, यदि विशेषण न रहें तो सत्तामात्र को कौन जान सकता है। इसलिये बोध को स्वसंवेद्य कहा जाता है। आपका स्वरूप किसी को साकार किसी को निराकार, किसी को भाव, किसी को अभाव किसी को साक्षी, किसी को स्वरूप तथा किसी को सर्वातीत जान पड़ता है। अतः वस्तुतः आपको किसी ने नहीं जाना। वास्तव में जो इन सम्पूर्ण रूपों का प्रकाशक है, जिसमें ये सब भासते हैं वही आपका स्वरूप है। और यही यथार्थ जानना है। जिसे ऐसा अनुभव है उसका फिर किसी मतवाद से कोई विरोध नहीं रहता।

**वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।**

**याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥१६॥**

**भावार्थ—** आप अपनी दिव्य विभूतियों का पूर्णतया वर्णन करने में समर्थ हैं, जिन विभूतियों के द्वारा आप इन सम्पूर्ण लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं।

**कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।**

**केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥१७॥**

**भावार्थ—** हे योगिन्! आपका निरन्तर चिन्तन करते हुए मैं किस प्रकार आपको जान सकता हूँ। तथा भगवन्! किन-किन भावों में मुझे आपका चिन्तन करना चाहिए।

**व्याख्या—** यहाँ 'चिन्त्योऽसि' पक्ष से जान पड़ता है कि अर्जुन भगवान् के सविशेष रूपों के विषय में पूछ रहा है, क्योंकि निर्विशेष का तो चिन्तन नहीं हो सकता।



विस्तरेणात्मनो योगं विभूर्तिं च जनार्दन।

भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

भावार्थ— हे जनार्दन! आप अपने विभूतियोग का पुनः विस्तार से वर्णन कीजिये, क्योंकि इस अमृतोपदेश को सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं होती है।

व्याख्या— इससे निश्चय होता है कि भगवान् की वाणी अमृतमयी होने के कारण मोक्ष या परमपद की प्राप्ति कराने वाली है, जिससे पुनः जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ना पड़ता। भगवान् पहले अध्याय में श्लोक ७ से १२ तक अपनी विभूतियों का वर्णन कर चुके हैं। अब अर्जुन उन्हें विस्तार से पुनः सुनना चाहता है, इसलिए यहाँ 'भूयः' शब्द का प्रयोग हुआ है।

श्री भगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।

प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

भावार्थ— श्रीभगवान् बोले— कुरुश्रेष्ठ! अच्छा, मैं प्रधानता से अपनी दिव्य विभूतियों का वर्णन करता हूँ। मेरे विस्तार का तो अन्त नहीं है।

व्याख्या— 'हन्त' का प्रयोग यहाँ खेद व्यक्त करने के लिए है, क्योंकि विभूतियाँ अनन्त हैं, उनका विस्तार से वर्णन सम्भव नहीं है। यहाँ एक बड़ा रहस्य है, 'मे' और 'विस्तरस्य' दोनों ही पद षष्ठी एक वचन के हैं, इसलिये 'मेरा विस्तार' ऐसा अर्थ न करके 'विस्तार रूप जो मैं' ऐसा अर्थ किया जा सकता है। अर्थात् विस्तार मुझसे भिन्न नहीं 'मैं' ही विस्तार हूँ, जैसे मकड़ी का जाला मकड़ी से भिन्न नहीं, मकड़ीरूप ही है। यदि विस्तार को भगवान् से भिन्न मानेंगे तो प्रकृति और पुरुष दो की सत्ता सिद्ध होगी, जो सिद्धान्तविरुद्ध है।

संगति— अगले श्लोक में भगवान् अपनी सर्वात्मता प्रकट करते हैं। यह श्लोक इस अध्याय में सबसे श्रेष्ठ है।



अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।  
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥२०॥

भावार्थ— हे गुडाकेश! मैं प्रत्यगात्मा (शुद्ध ब्रह्म सच्चिदानन्द

श्रीकृष्ण) सभी प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित हूँ। तथा मैं ही सबका आदि (कारण) मध्य (स्थूल-सूक्ष्म शरीर तथा विराट और हिरण्यगर्भ) और अन्त (ईश्वर या माया विशिष्ट ब्रह्म) हूँ।

व्याख्या— भगवान् ने पहले अपने को सबका आत्मा अर्थात् शुद्ध ब्रह्म कहा। फिर सब भूतों का मध्य बतलाया और फिर सबका अन्त। इस प्रकार सर्वरूप होने के कारण किसी भी विभूति की उपासना करने से मेरी ही उपासना होती है। मैं ही सविशेष हूँ और मैं ही निर्विशेष हूँ। मुझ ही से सब उत्पन्न हुए हैं, मुझ ही में स्थित हैं और मुझ ही में लीन होते हैं। इस प्रकार सभी मेरी विभूति हैं, क्योंकि मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है।

प्रश्न—भगवान् ने कहा कि मैं सब भूतों के हृदय में स्थित हूँ, इससे तो जान पड़ता है कि भूतों के हृदय और भगवान् भिन्न-भिन्न हैं।

उत्तर— नहीं, क्योंकि सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाले भगवान् ही हैं, अतः सर्वरूप में वे ही हैं, जैसे स्वप्न स्वप्नद्रष्टा से भिन्न नहीं होता। अतः भूतों के हृदय और भगवान् दोनों एक ही वस्तु हैं।

संगति— अब भगवान् अपनी विभूतियाँ आरम्भ करते हैं—  
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।  
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥२१॥

भावार्थ— मैं बारह अदितिपुत्रों में विष्णु (वामन भगवान्) ज्योतियों में किरणों वाला सूर्य हूँ, उनचास मरुद्गण में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।  
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥२२॥



भावार्थ— मैं वेदों में सामवेद हूँ देवताओं में इन्द्र हूँ इन्द्रियों में मन हूँ और प्राणियों में चेतना शक्ति हूँ।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वितेशो यक्षरक्षसाम्।

वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥२३॥

भावार्थ— मैं एकादश रुद्रों में शंकर हूँ, यक्ष-राक्षसों में कुबेर हूँ, आठ वसुओं में अग्नि हूँ, और पर्वतों में मेरु हूँ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ वृहस्पतिम्।

सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागर॥२४॥

भावार्थ— हे पार्थ! तुम पुरोहितों में मुझे मुख्य पुरोहित वृहस्पतिजी जानो। सेनापतियों में मैं स्वामिकार्तिकेय हूँ और जलाशयों में समुद्र हूँ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालय॥२५॥

भावार्थ— मैं महर्षियों में भृगु हूँ, वाणी में एकाक्षर ॐकार हूँ, यज्ञों में जपयज्ञ हूँ और स्थावरों (एक स्थान में ही रहने वालों) में हिमालय हूँ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।

गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥२६॥

भावार्थ— मैं सम्पूर्ण वृक्षों में अश्वत्थ (पीपल) हूँ, देवर्षियों में नारद हूँ, गन्धर्वों में चित्ररथ हूँ और सिद्धों में कपिल मुनि हूँ।

उच्चैः श्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।

ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥२७॥

भावार्थ— घोड़ों में तुम मुझे अमृतमन्थन के समय समुद्र से प्रकट होने वाला उच्चैश्रवा घोड़ा जानो। गजेन्द्रों में मैं ऐरावत हूँ और मनुष्य में राजा हूँ।

आयुधानामहं वज्रं धेतूनामस्मि कामधुक्।

प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥२८॥



भावार्थ— शस्त्रों में 'मैं' वज्र हूँ, गौओं में कामधेनु हूँ, प्रजोत्पत्ति के कारणों में 'मैं' कामदेव हूँ, और सर्पों में वासुकि हूँ। अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्। पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥२९॥

भावार्थ— मैं नागों में शेषनाग हूँ, जलचरों में वरुण हूँ पितरों में अर्यमा हूँ और शासन करने वालों में यम हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्। मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥३०॥

भावार्थ— मैं दैत्यों में प्रह्लाद हूँ, गणना करने वालों में काल हूँ, मृगों (वनचरों) में सिंह हूँ और पक्षियों में गरुड़ हूँ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्। झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥३१॥

भावार्थ— पवित्र करने वालों में पवन हूँ, शस्त्रधारियों में राम हूँ, मछलियों में मगर हूँ और स्रोतवालों में मैं गंगा हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन। अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥३२॥

भावार्थ— हे अर्जुन! मैं उत्पन्न होने वाले पदार्थों का आदि मध्य और अन्त हूँ। विद्याओं में अध्यात्म विद्या हूँ और विवाद करने वालों में वाद हूँ।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च। अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥३३॥

भावार्थ— मैं अक्षरों में अकार हूँ, समासों में द्वन्द्व समास हूँ, मैं ही कभी नष्ट न होने वाला काल हूँ, तथा सब ओर मुख वाला विधाता भी मैं ही हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्। कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मधा धृतिः क्षमा॥३४॥



भावार्थ— मैं सबका संहार करने वाला मृत्यु हूँ जो होने वाला है उनका उत्पत्ति स्थान हूँ स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।

मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥३५॥

भावार्थ— मैं सामवेद के सूक्तों में बृहत्साम हूँ, छन्दों में गायत्री हूँ, महीनों में मार्गशीर्ष हूँ और ऋतुओं में वसन्त हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।

जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥३६॥

भावार्थ— मैं छल के साधनों में द्यूत (जुआ) हूँ, तेजस्वियों में तेज हूँ (विजेताओं में) जय हूँ, (उद्यमियों में) व्यवसाय (निश्चय) हूँ और सात्त्विकों में सत्त्वगुण हूँ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।

मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥३७॥

भावार्थ— वृष्णि वंशियों में मैं वसुदेव कृष्ण हूँ, पाण्डवों में अर्जुन हूँ, मुनियों में व्यास हूँ और कवियों में शुक्राचार्य हूँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।

मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥३८॥

भावार्थ— दमन करने वालों में मैं दण्ड हूँ, जय की इच्छा रखने वालों में नीति हूँ, गोपनीयों में मौन हूँ और ज्ञानियों में ज्ञान हूँ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।

न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥३९॥

भावार्थ— हे अर्जुन! सम्पूर्ण भूतों का जो बीज है वह मैं हूँ। ऐसा कोई चराचर प्राणी नहीं है जो मुझ से रहित हो।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।

एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥४०॥



**भावार्थ—** हे शत्रुदमन! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। यह तो मैंने तुम्हें संक्षेप में ही अपनी विभूतियों का विस्तार सुनाया है।

**व्याख्या—** श्री भगवान् ने श्लोक १९ में विभूतियों का वर्णन आरम्भ करते समय भी यही बात कही थी कि मेरी विभूतियों का अन्त नहीं है। उसी बात को यहाँ दुहराया है। इसी बात को आगे श्लोक से स्पष्ट करते हैं।

**यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।**

**तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम् ॥४१॥**

**भावार्थ—** जो-जो भी वस्तु ऐश्वर्य युक्त, कान्तियुक्त और तेजोमयी है उस-उस को तुम मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुई समझो। [अतः वे सब मेरी विभूतियाँ ही हैं।]

**अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।**

**विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥**

**भावार्थ—** अथवा हे अर्जुन! इस विषय में बहुत जानने से तुम्हारा क्या प्रयोजन है? इस सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंश से व्याप्त करके मैं ही तो स्थित हूँ।

**व्याख्या—** मेरे चार पादों में से एक पाद में ही यह सारा जगत् है, तीन पाद तो उससे सर्वथा मुक्त ही हैं—‘पादोऽस्य सर्वाणि भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।’ ब्रह्म के कोई पाद या अंश नहीं होते किन्तु जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इन चार अवस्थाओं के कारण ब्रह्म के चार पाद कहे जाते हैं। भगवान् के केवल एक पाद में माया है, जैसे आकाश के किसी एक अंश में बादल होता है। परन्तु यह बात भी केवल जिज्ञासु को समझाने के लिए कही जाती है। बोध या भगवत्साक्षात्कार होने पर तो यही अनुभव होता है कि यह सब वासुदेव ही है—‘वासुदेव इदं सर्वम्’ सर्वं खल्विदं ब्रह्म। यही नहीं, ‘सब’ नाम की कोई वस्तु नहीं है। वस, वासुदेव ही वासुदेव है, ब्रह्म ही ब्रह्म है—ऐसा अनुभव होता



है। जैसे घट-शराबादि नहीं मिट्टी ही मिट्टी है, आभूषण नहीं सुवर्ण ही सुवर्ण है। 'हरिरेव जगज्जगदेव हरिः।'

**प्रश्न—** ब्रह्म के चार पाद आपने बतलाये। इनमें से एक में सम्पूर्ण भूत हैं, सो किस प्रकार?

**उत्तर—** जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ये ब्रह्म के चार पाद कहे जाते हैं। इनमें जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तो माया के कार्य हैं और तुरीय शुद्ध है किन्तु वह इन तीनों का प्रकाशक और अधिष्ठान है। वास्तव में तीन भी उससे भिन्न नहीं हैं, अपितु उसी की सत्ता से भासित होते हैं। इस प्रकार उसी के एक अंश में हैं और वह इनमें अनुगत और इनसे भिन्न भी है।

**प्रश्न—** आपने ब्रह्म के एक अंश में माया बतलायी और ऐसा भी सुनने में आता है कि बोध होने पर भी लेशविद्या रहती है, सो क्या ठीक है?

**उत्तर—** बोधवान् का एक शरीर नहीं होता। सब शरीर उसके ही हैं। यही बात ईश्वर के विषय में भी कही जाती है। अतः तत्त्ववेत्ता ईश्वर के समान है। ईश्वर में मायावृत्ति रहती है। उस मायावृत्ति को ही लेशाविद्या कहा जाता है। किन्तु तत्त्ववेत्ता की दृष्टि में यह मायावृत्ति उसके स्वरूप से भिन्न नहीं है। इसलिये प्रारब्ध समाप्त होने पर नहीं रहती। परन्तु यह बात भी जिज्ञासु को समझाने के लिये है, वास्तव में तो बोध होने पर सभी का अत्यन्ताभाव हो जाता है। जब माया ही नहीं रहती तो उसकी वृत्ति कैसे रहेगी? कारण का अभाव होने पर कार्य कैसे रह सकता है?

**प्रश्न—** वृत्ति तो अज्ञान का कार्य है, फिर ब्रह्माकार वृत्ति अज्ञान को, जो उसका कारण है, जैसे नष्ट कर सकती है।

**उत्तर—** अज्ञान को वृत्ति नष्ट नहीं करती वृत्त्याकार चेतन नष्ट करता है। अज्ञान को न तो शुद्ध चेतन नष्ट करता है और न केवल



वृत्ति, क्योंकि ब्रह्म उसका अधिष्ठान है और वृत्ति उसी का कार्य है। किन्तु जब वृत्ति ब्रह्माकार होती है तो वह अज्ञान की विरोधिनी होने से उसे निवृत्त करके स्वयं भी समाप्त हो जाती है।

**प्रश्न—** भेदज्ञान किसे होता है और अभेद की अनुभूति किसे होती है?

**उत्तर—** भेदज्ञान तो जीव को होता है और अभेदज्ञान किसे होता है—यह हम कह नहीं सकते। जब भगवान् ही है तो किसे किसका ज्ञान बताया जाय। वास्तव में भेद की निवृत्ति ही अभेद में स्थिति है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां  
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे  
विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः॥१०॥





ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

## अथैकादशोऽध्यायः

संगति— पिछले अध्याय में भगवान् ने पहले तो कहा कि मेरे भक्त के अतिरिक्त मेरे स्वरूप को कोई नहीं जानता, किन्तु फिर कहा कि सब मेरा ही स्वरूप है। इस पर अर्जुन ने पूछा कि यदि सब आपका स्वरूप है तो मैं किस भाव से आपका भजन करूँ? तब भगवान् ने २० वें श्लोक में यह विचित्र बात बताते हुए कि सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूँ अपनी मुख्य-मुख्य विभूतियों का वर्णन किया। तथा अध्याय के अन्त में बतलाया कि मेरे एक अंश में माया है। अर्थात् इस सम्पूर्ण जगत् को मैं एक अंशमात्र से धारण करके स्थित हूँ। इन वचनों को सुनकर अर्जुन ने भगवान् के विश्वरूप दर्शन की आकांक्षा प्रकट करते हुए कहा—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।

यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥१॥

भावार्थ— अर्जुन बोला— मुझ पर अनुग्रह करने के लिये आपने जो परम गोपनीय [ आत्मा-अनात्मा का विवेक करने वाला ] अध्यात्म विषयक वचन कहा है उससे मेरा मोह निवृत्त हो गया है।

व्याख्या—प्रश्न— भगवान् ने अर्जुन के प्रति ही इतना अनुग्रह क्यों किया था?

उत्तर— भगवान् ने अध्याय ४/३ में कहा है—‘भक्तोऽसि मे सखा चेति।’ तथा अर्जुन ने भी भगवान् का कृपापात्र बनने के लिये अध्याय २/७ में कहा है, ‘शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।’ इस प्रकार अर्जुन ने भगवान् का शिष्यत्व स्वीकार किया। और शास्त्र में ऐसी विधि है कि शिष्य और ज्येष्ठ पुत्र ब्रह्मविद्या प्राप्त करने का



अधिकारी होता है। इसलिये अर्जुन को अधिकारी जानकर भगवान् ने उस पर अनुग्रह किया है।

**प्रश्न—** इस विद्या में वह क्या रहस्य है जो भगवान् ने अर्जुन के प्रति प्रकट किया?

**उत्तर—** उत्तम रहस्य यही है कि इस विद्या को प्राप्त कर लेने पर फिर सब कर्म करते हुए भी पाप-पुण्य से लिप्त नहीं होता। परन्तु यह विद्या उसीको बतानी चाहिये जो तपस्वी, जिज्ञासु भक्त और गुणों में दोष न देखने वाला हो।

**भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।**

**त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥२॥**

**भावार्थ—** हे कमलदल-लोचन! मैंने आपसे विस्तारपूर्वक प्राणियों के उत्पत्ति और प्रलय सुने तथा आपकी अविनाशिनी महिमा भी श्रवण की।

**व्याख्या—** अर्जुन शास्त्रज्ञ है। उसने श्रुति और स्मृति द्वारा यह सुना हुआ था कि जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय भगवान् से ही होती है। यही बात अब स्वयं भगवान् के मुख से भी सुनली। यहाँ उत्पत्ति और प्रलय से स्थिति भी उपलक्षित है, अतः वह जोड़ लेनी चाहिये। फिर श्रुति-स्मृति से भगवान् की यह महिमा भी सुनी हुई थी कि वे एक से अनेक हो जाते हैं। यही बात अब स्वयं श्री मुख से भी सुन ली कि बिना निमित्त और उपादान हुए ही वे सृष्टि की रचना कर देते हैं। इस श्लोक में जो 'अपि' शब्द है उससे यह चमत्कार भी सूचित होता है कि भगवान् सब कुछ करते हुए भी उससे लिप्त नहीं होते।

**एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।**  
**द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमेश्वरं पुरुषोत्तम॥३॥**

**भावार्थ—** हे परमेश्वर! आपने अपने विषय में जो कुछ कहा है वह वैसा ही है। हे पुरुषोत्तम! अब मैं आपका ईश्वरीय स्वरूप देखना चाहता हूँ।



व्याख्या— यहाँ तक अर्जुन को ज्ञानोपदेश तो बहुत हो चुके हैं और अपने साकार रूप से भगवान् स्वयं ही सामने खड़े हैं। अतः अब वे भगवान् के ऐश्वर्यपूर्वक विराट् स्वरूप के दर्शन की इच्छा प्रकट करते हैं। अब तक तो वे भगवान् को मनुष्य ही समझते थे, परन्तु अब वे उनको 'परमेश्वर' और 'पुरुषोत्तम' कहकर सम्बोधित कर रहे हैं। वे देखना चाहते हैं किस प्रकार सम्पूर्ण भूत भगवान् में ही स्थित हैं।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।

योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

भावार्थ— प्रभो! यदि आप ऐसा समझते हैं कि मैं आपके उस रूप को देखने में समर्थ हूँ तो हे योगेश्वर! मुझे उस अविनाशी स्वरूप का दर्शन कराइये।

व्याख्या— यहाँ अर्जुन ने किसी प्रकार की उद्विग्नता प्रकट नहीं की, केवल प्रार्थना ही की है कि यदि आप मुझे उस रूप के दर्शन में समर्थ समझें तो दिखाने की कृपा करें। यहाँ भगवान् को योगेश्वर इसलिये कहा कि वे उनसे अपना योग-बल प्रकट करने की ही प्रार्थना कर रहे हैं। योगेश्वर होने पर ही तो वे अपने विश्व-रूप का दर्शन करा सकेंगे, तथा 'प्रभो' शब्द से इसलिए सम्बोधन किया है कि आप सबके स्वामी हैं और सब प्रकार समर्थ भी हैं।

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णकृतीनि च ॥५॥

भावार्थ— हे पार्थ! मेरे सैकड़ों-हजारों प्रकार के अनेक वर्ण और अनेक आकृतियों वाले अनेक प्रकार के दिव्य रूपों को देखो।

पश्यादित्यान्वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।

बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥

भावार्थ— हे भारत! मेरे इन रूपों में तुम सूर्य, वसुगण, रुद्रगण, दोनों अश्विनीकुमार और मरुद्गण को तथा और भी पहले कभी न देखे हुए अनेकों आश्चर्यों को देख लो।



इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।  
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥७॥

भावार्थ— हे गुडाकेश! मेरे इस शरीर में तुम एक ही स्थान में स्थित सम्पूर्ण चराचर जगत् तथा और भी जो कुछ देखना चाहो देख लो।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।  
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥८॥

भावार्थ— परन्तु तुम अपने इन्हीं नेत्रों से मुझे नहीं देख सकोगे। अतः मैं तुम्हें दिव्य नेत्र देता हूँ। उससे मेरे योग और ऐश्वर्य को देखो।

व्याख्या— दिव्य नेत्र का अर्थ है दिव्यदृष्टि, योगबल या अलौकिक शक्ति। यह यौगिक सिद्धि है अथवा इसे ऋतम्भरा प्रज्ञा समझना चाहिये। साधनसाध्य दिव्य चक्षु दो हैं—प्रेमचक्षु, जिससे सब सृष्टि अपने इष्ट का ही स्वरूप दिखायी दे तथा विचार-चक्षु, जिससे सब ब्रह्ममय अनुभव होने लगे। किन्तु यहाँ योगबल का तात्पर्य तत्त्वज्ञान नहीं है। यह तो योगियों या भगवान् की कृपा से प्राप्त होने वाली कोई दृष्टि है। एक क्षण में ऐसी दृष्टि हो जाना कृपासाध्य ही है, साधन-साध्य नहीं। परन्तु भगवत्प्राप्ति तो तब होती है जब इससे भी वैराग्य हो जाय। जो योगी किसी सिद्धि या चमत्कार की इच्छा से योग-साधन करते हैं वे आवागमन के चक्र से मुक्त नहीं होते, मुक्ति तो केवल तत्त्वज्ञान से होती है।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।  
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥९॥

भावार्थ—सञ्जय बोला—हे राजन्! ऐसा कहकर महान् योगेश्वर श्रीहरि ने अर्जुन को अपना सर्वोत्कृष्ट ईश्वरीय स्वरूप दिखलाया।



अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।  
 अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥  
 दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यागन्धानुलेपनम् ।  
 सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

भावार्थ— वह रूप अनेक मुख, अनेक नेत्र और अनेकों अद्भुत दर्शनों से युक्त था। उसने अनेकों दिव्य आभूषण और दिव्य शस्त्रास्त्र धारण किये हुए थे। वह दिव्य मालाएँ और वस्त्र तथा दिव्य गन्ध और अनुलेपन से सुसज्जित था। इस प्रकार वह सब प्रकार के आश्चर्यों से युक्त, दिव्य, अनन्त और सब ओर मुखवाला था।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्यु गपदुत्थिता ।

यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

भावार्थ— आकाश में सहस्रों सूर्यों से प्रकट हुआ जो प्रकाश हो वह भले ही उन परमपुरुष के प्रकाश के समान हो सके।

तत्रैकस्थं जगत्कृस्नं प्रविभक्तमनेकधा ।

अपश्यदेवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

भावार्थ— तब अर्जुन ने देवाधिदेव भगवान् के शरीर में एक ही जगह अनेक प्रकार से विभक्त सम्पूर्ण संसार देखा।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।

प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

भावार्थ— तब विस्मय से भर जाने के कारण रोमाञ्चित होकर अर्जुन ने शिर झुकाकर भगवान् को प्रणाम किया और हाथ जोड़कर कहने लगा।

अर्जुन उवाच

पश्यामि दैवांस्तव देव देहे सर्वास्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।  
 ब्रह्माण्मीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥

भावार्थ— अर्जुन बोला— हे देव! मैं आपके शरीर में सम्पूर्ण देवताओं को विशेष प्राणिसमुदाय को कमलासन पर विराजमान



ब्रह्मा को, शंकरजी को तथा सम्पूर्ण ऋषियों और दिव्य नागों को देख रहा हूँ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं

पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं

पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥१६॥

भावार्थ— हे विश्वेश्वर! हे विश्वरूप! मैं आपको अनेक भुजा

उदर मुख और नेत्रों वाला तथा सब ओर अनन्त रूप देखता हूँ। मुझे आपका न आदि न अन्त और न मध्य दिखायी देता है। [क्योंकि जो वस्तु उत्पन्न होती है ये आदि अन्त और मध्य तो उसी के होते हैं; आप तो अजन्मा हैं, इसलिये आप में ये भेद कैसे हो सकते हैं।]

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च

तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।

पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-

दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥१७॥

भावार्थ— मैं आपको मुकुट, गदा और चक्र धारण किये देखता हूँ। आप सब ओर देदीप्यमान् तेजःपुञ्ज हैं। आपका स्वरूप सूर्य के समान सब ओर प्रकाशमान्, नेत्रों का अविषय और असीम है।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं

त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता

सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥१८॥

भावार्थ— आप अविनाशी हैं, श्रेष्ठ जानने योग्य हैं तथा इस विश्व के परम आश्रय हैं। आप ही अव्यय, सनातन वैदिक धर्म की रक्षा करने वाले तथा सनातन पुरुष हैं ऐसा मेरा मत है।

व्याख्या— इस श्लोक में भगवान् का निषेधमुख से वर्णन किया गया है, अतः यह उनके निर्गुण स्वरूप को लक्षित कराता है। अगले श्लोक में उनके सगुण साकार विश्व रूप का वर्णन है।



अनादिमध्यान्तगनन्तवीर्य—

मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।

पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं

स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥१९॥

भावार्थ— मैं आपको आदि मध्य और अन्त से रहित, अनन्तवीर्य, अनन्तबाहु और चन्द्रमा तथा सूर्यरूप नेत्रों वाले देखता हूँ। आपके मुख से प्रज्वलित अग्नि निकल रही है तथा आप अपने तेज से इस विश्व को तपा रहे हैं।

व्याख्या— आप आदि मध्य और अन्त से रहित हैं, इसी से आप अनन्तवीर्य हैं। परन्तु आपको अनन्तवीर्य इसलिये नहीं कहा कि आपने पहाड़ उठा लिया था। पहाड़ तो हनुमान जी ने भी उठा लिया था और शेषजी तो सारी पृथ्वी को धारण किये हुए हैं। अतः यह बल तो सीमावद्ध है, आपका पराक्रम तो असीम है। इसी प्रकार अनेक रूप हो जाना भी आपके बल का सूचक नहीं है क्योंकि ऐसी शक्ति तो योगियों में भी होती है, रावण ने भी युद्ध स्थल में अनेक रूप धारण कर लिये थे। आपका अनन्त बल तो यही है कि सम्पूर्ण विश्व रूप में विराजमान हैं। और अपने तेज से इस सम्पूर्ण विश्व को आलोकित और सन्तप्त कर रहे हैं।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि

व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।

दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं

लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥२०॥

भावार्थ— हे विशाल शरीर वाले! आप अकेले ने ही स्वयं पृथ्वी और इन दोनों के बीच का आकाश तथा सम्पूर्ण दिशाएँ व्याप्त की हुई हैं। आपके इस अद्भुत उग्र रूप को देखकर ये तीनों लोक घबराये हुए हैं।



अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति  
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।  
स्वतस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः

स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥२१॥

भावार्थ— ये देवताओं के झुण्ड आप में प्रवेश कर रहे हैं, कुछ (दैत्यादि) भयभीत होकर हाथ जोड़े आपका गुण-गान कर रहे हैं। तथा महर्षि और सिद्धों के समूह 'स्वस्ति-स्वस्ति' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं।

व्याख्या— देवता अर्थात् दैवी प्रकृति के लोग आपसे अभिन्न होने के लिये आप में प्रवेश कर रहे हैं तथा आसुरी प्रकृति के लोग आपसे भयभीत हैं। तात्पर्य यह है कि आसुरी प्रकृति के लोग आपके रूप को देखकर अशान्त हो रहे हैं और भक्तजन आपका दर्शन करके शान्त एवं ध्यान मग्न हो रहे हैं।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या  
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।

गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा  
वीक्षन्ते त्वां विस्मताश्चैव सर्वे॥२२॥

भावार्थ— ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, दो अश्विनीकुमार, उनचास मरुद्गण, पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्ध समुदाय सभी आश्चर्य-चकित होकर आपका दर्शन कर रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं  
महाबाहो बहुबाहुरूपादम्।

बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं  
दृष्ट्व लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥२३॥

भावार्थ— हे महाबाहो! अनेकों मुख और नेत्रों वाले, बहुत-सी भुजा, जंघा, और पैरों वाले, तथा अनेकों उदर और



बहुत-सी डाढ़ों के कारण भयानक दिखायी देने वाले आपके इस रूप को देखकर सब लोक और मैं भी भयभीत हो रहे हैं।

नभः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं  
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।

दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा  
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

भावार्थ— हे विष्णो! आपको आकाश को स्पर्श करने वाला, देदीप्यमान, अनेकों वर्णों वाला, फैलाये हुए मुखवाला और दीप्तिशाली विशाल नेत्रों वाला देखकर मैं व्यथित चित्त हूँ। मुझे न धैर्य होता है और न शान्ति।

व्याख्या— यहाँ 'विष्णो' सम्बोधन से भगवान् की व्यापकता सूचित की गयी है। अर्थात् आप सर्वरूप और सर्वव्यापक हैं। नाना वर्णों वाले हैं, क्योंकि सब वर्ण आपसे ही उत्पन्न हुए हैं। आकाश के समान विशाल हैं, परन्तु अभावरूप या जड़ नहीं देदीप्यमान हैं— प्रकाशपुञ्ज या ज्ञानस्वरूप हैं।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि  
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।

दिशो न जाने न लभे च शर्म  
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

भावार्थ— आपके विकराल डाढ़ों वाले तथा कालाग्नि के समान भयङ्कर मुखों को देखकर न दिशाओं का ज्ञान रहा है न शान्ति ही मिल रही है। हे जगन्निवास! हे देवेश्वर! आप प्रसन्न होइये।

व्याख्या— अर्जुन अत्यन्त भयभीत है। इसी से उसे दिशाओं का ज्ञान नहीं रहा और न शान्ति ही मिल रही है। जब राग या भय का आवेश होता है तो बुद्धि नष्ट हो जाती है इसीसे शास्त्रों में इनका निषेध है।



अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः  
 सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।  
 भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ  
 सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥२६॥  
 वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति  
 दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।  
 केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु  
 संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥२७॥

भावार्थ— राजाओं के समूहों के सहित ये धृतराष्ट्र के सभी पुत्र तथा हमारे मुख्य-मुख्य योद्धाओं के सहित भीष्म द्रोण और कर्ण बड़ी तेजी के साथ आपके कराल डाढ़ों वाले भयानक मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। और कोई आपके दाँतों के बीच में लगे हुए दिखाई दे रहे हैं, जिनके कि सिर चूर-चूर हो गये हैं।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः  
 समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।

तथा तवामी नरलोकवीरा  
 विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥२८॥

भावार्थ— जैसे नदियों के बहुत से प्रवाह समुद्र की ओर दौड़ते चले जाते हैं उसी प्रकार से मानवलोक के वीर आपके प्रज्वलित मुखों में प्रविष्ट होते जा रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा  
 विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।

तथैव नाशाय विशन्ति लोका-  
 स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥२९॥

भावार्थ— जैसे पतङ्ग अपने नाश के लिये अत्यन्त वेगयुक्त होकर प्रज्वलित अग्नि में घुस जाते हैं उसी प्रकार ये सब लोग भी मरने के लिये बड़े वेग से आपके मुखों में घुस रहे हैं।



व्याख्या— यहाँ सूक्ष्म शरीर को लीन करने के लिये नदी का दृष्टान्त दिया है और स्थूल शरीर को लीन करने के लिये अग्नि-पतङ्ग का दृष्टान्त दिया है।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता—

ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।

तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं

भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

भावार्थ— हे विष्णो! आप सम्पूर्ण लोकों को अपने प्रज्वलित मुखों द्वारा निगलते हुए चाट रहे हैं। तथा आपका उग्र प्रकाश अपने तेज से सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करके तपा रहा है। [यहाँ चाटने की बात इसलिये कही है कि खाने पर तो कुछ बच रहता है, परन्तु चाटने पर कुछ नहीं बचता।]

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो

नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।

विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं

न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

भावार्थ— हे देवश्रेष्ठ! मुझे बताइये कि उग्ररूपधारी आप कौन हैं, आपको नमस्कार है, आप प्रसन्न होइये। मैं आप आदिस्वरूप को जानना चाहता हूँ, मैं आपकी प्रवृत्ति को [अर्थात् आप क्या करना चाहते हैं—इस बात को] नहीं जानता।

व्याख्या— आदिस्वरूप अर्थात् वास्तविक स्वरूप को जानना चाहता हूँ, जहाँ आदि-अन्त होता है वहाँ तो माया होती है। इसलिये जो आदि-अन्त से रहित है उसी को यहाँ आदिस्वरूप कहा है। इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन भगवान् के उस स्वरूप को जानना चाहता है जो कार्य-कारण, साकार-निराकार और सगुण-निर्गुण से परे है। संविशेष रूप से तो भगवान् सामने विराजमान हैं ही, उससे तो वह चिरपरिचित है। अतः वह उनके पारमार्थिक निर्विशेष रूप को जानना



चाहता है इसीलिये उसे देखने की बात न कहकर 'विज्ञातुम्' पद से जानने की बात कही है। अतः उसे जिज्ञासा है देखने की इच्छा नहीं। इसी से 'प्रसीद' (प्रसन्न होइये) ऐसा भी कहा है, क्योंकि भगवान् अपने वास्तविक स्वरूप को तो स्वयं ही जानते हैं और उनकी कृपा से ही किसी अन्य को उसका ज्ञान हो सकता है।

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो

लोकान्समाहर्तुमिह

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे

प्रवृत्तः।

येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥३२॥

भावार्थ— श्री भगवान् बोले—मैं लोकों का संहार करने के लिये बढ़ा हुआ काल हूँ। यहाँ लोकों का संहार करने में ही लगा हुआ हूँ। इस दोनों सेनाओं में जो वीर विद्यमान हैं वह तेरे बिना भी [अर्थात् तेरे युद्ध न करने पर भी] बचेंगे नहीं।

व्याख्या— श्री भगवान् ने यहाँ अपने को काल कहा है, क्योंकि अगले श्लोक में वे कहेंगे कि ये सब मेरे द्वारा मारे हुए हैं, तू केवल निमित्तमात्र हो जा। अर्थात् तेरे सिवा मैं सभी का संहार करूँगा। भगवान् अपने अभक्तों का, दुष्टों का या रजोगुणी-तमोगुणी भक्तों का संहार करते हैं। यहाँ यद्यपि भीष्मादि सात्त्विक भक्त हैं तथापि दुर्योधनादि दुष्टों का संग करने से वे भी बध के योग्य हो गये हैं। इसलिये उनका भी संहार करेंगे। यहाँ 'न भविष्यन्ति सर्वे' ऐसा बहुवचन है। इसका अर्थ यह है कि जैसे केवल स्वप्न-द्रष्टा ही रह जाता है और सब स्वप्न-पुरुष जगने पर नहीं रहते उसी प्रकार अब बोध होने पर तेरे सिवा और सम्पूर्ण दृश्य सत्ताशून्य हो जायगा।

संगति—अब युद्ध से उदासीन हुए अर्जुन को उत्तेजित करते हैं—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व

जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।



मयैवैते निहताः पूर्वमेव

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

भावार्थ— इसलिये तू खड़ा हो और यश प्राप्त कर तथा शत्रुओं को जीतकर इस समृद्धिशाली राज्य को भोग। ये सब तो पहले ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। हे सव्यसाचिन्! तू केवल निमित्त मात्र हो जा। [अर्जुन को 'सव्यसाची' इसलिये कहा है क्योंकि वह बायें हाथ से भी बाण चला सकता था।]

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च

कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा

युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

भावार्थ— द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण तथा और भी अनेकों वीरों को, जो मेरे द्वारा मार दिये गये हैं, तू मार। तू घबरा मत, युद्ध कर, संग्राम में तू ही अपने शत्रुओं को जीतेगा।

प्रश्न— यहाँ द्रोण-भीष्मादि थोड़े से वीरों के ही नाम क्यों गिनाये हैं?

उत्तर— ये प्रधान योद्धा थे। इन्हीं से अर्जुन को भय था। अतः भगवान् ने यह बतलाकर कि ये सब मेरे द्वारा पहले ही मार दिये गये हैं, अर्जुन को निर्भय कर दिया।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य

कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।

नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं

सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

भावार्थ— संजय ने कहा—भगवान् कृष्ण के ये वचन सुनकर अर्जुन काँपने लगा और हाथ जोड़कर भयभीत हो गद्गद् वाणी से पुनः बोला।



**व्याख्या—** भगवान् के यह वचन सुनकर अर्जुन को अपनी विजय की सम्भावना से आन्तरिक हर्ष हुआ। किन्तु वह तो अब तक उन्हें अपना एक सम्बन्धी और मनुष्य ही समझता था। जब भगवान् ने स्वयं ही श्रीमुख से कहा कि मैं काल हूँ तो अपने को अपराधी मानकर उसे भय हुआ कि मैं तो इनसे अब तक बराबरी का बर्ताव करता रहा हूँ। इसीसे उसका शरीर रोमाञ्चित हो गया और वाणी लड़खड़ाने लगी।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या

जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।

रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति

सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥३६॥

**भावार्थ—** अर्जुन बोला—हृषीकेश! आपके सुयश से जगत् हर्ष और अनुराग को प्राप्त होता है—यह उचित ही है। [यही नहीं] राक्षस लोग भयभीत होकर दशों दिशाओं को भाग जाते हैं और सम्पूर्ण सिद्ध समुदाय नमस्कार करते हैं।

**व्याख्या—** भगवान् के चरित्रों को सुनकर तत्पुरुषों का उनके प्रति अनुराग होता है और उन्हें प्रसन्नता भी होती है, किन्तु दुष्ट भयभीत होते हैं और प्राण लेकर भागने लगते हैं। सिद्धों से यहाँ तत्त्ववेत्ता समझने चाहिये। वे भी भगवान् को नमस्कार करते हैं, जो भक्तजन हैं वे तो करते ही हैं। भगवान् को सब लोग क्यों नमस्कार करते हैं उसका कारण अगले श्लोक में बताते हैं।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्

गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।

अनन्त देवेश जगन्निवास

त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥३७॥

**भावार्थ—** हे भगवान्! आप अत्यन्त महान् और ब्रह्मा के भी आदिकर्त्ता हैं, अतः वे सब आपको क्यों न नमस्कार करें। हे अनन्त!



हे देवेश्वर! हे जगन्निवास! जो सत्-असत् से परे सच्चिदानन्दस्वरूप अविनाशी ब्रह्म है वह आप ही हैं।

**व्याख्या—** जिसका देह-देहीभाव छूट गया है, जिसे जड़-चेतन का विवेक है तथा व्याप्य-व्यापक भाव की निवृत्ति होकर जिसे सम्पूर्ण अध्यस्त अधिष्ठानरूप ही जान पड़ता है वही महात्मा है। आप अनन्त हैं, क्योंकि आप सर्वरूप हैं, जिस प्रकार मृत्तिका से घट, सुवर्ण से आभूषण और स्वप्न-द्रष्टा से स्वप्न भिन्न नहीं है उसी प्रकार आपमें अध्यस्त यह सम्पूर्ण प्रपञ्च आपसे भिन्न नहीं है। अतः सर्वस्वरूप होने के कारण आप अनन्त हैं। आप जगन्निवास हैं, क्योंकि जैसे फेन-तरंगादि जल में रहते हैं और जलरूप ही हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपञ्च आप में ही अभिन्न रूप से विद्यमान है। तथा सत् (कार्य वर्ग या भाव) और असत् (कारण या अभाव) इन दोनों से अतीत जो अक्षर ब्रह्म है वह भी आप ही हैं। इस प्रकार आप शून्य-अशून्य दोनों ही से विलक्षण हैं।

**त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-**

**स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।**

**वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम**

**त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥३८॥**

**भावार्थ—** आप आदि देव और पुराण पुरुष हैं। आप इस विश्व के परम आधार हैं। आप सबको जानने वाले सम्पूर्ण वेद्य (दृश्य) और परम धाम हैं तथा हे अनन्त रूप! यह सम्पूर्ण विश्व आपसे ही व्याप्त है। [अर्थात् आप स्वयं विराट् भगवान् हैं।]

**वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः**

**प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।**

**नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः**

**पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥३९॥**



भावार्थ— आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति और प्रपितामह (प्रजापति ब्रह्मा के भी पिता) हैं। आपको हजारों बार नमस्कार है। तथा फिर भी बार-बार नमस्कार है।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठस्ते

नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।  
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं

सर्व समाप्नोऽपि ततोऽसि सर्वः॥४०॥

भावार्थ— हे सर्वात्मन्! आपको आगे से, पीछे से और सब ओर से नमस्कार है। आप अनन्त बलशाली और अतुलित पराक्रमी हैं तथा सभी को व्याप्त किये हुए हैं, इसलिये सब कुछ आप ही हैं।

व्याख्या— आगे-पीछे इधर-उधर सर्वत्र ब्रह्म ही है। जो वस्तु दिखायी देती है वह तो परिच्छिन्न होती है और जो जाना जाता है वह सबका अधिष्ठान होने के कारण विभु है। अतः अणु-अणु सब उसी में भास रहा है। अतः आप सर्वस्वरूप हैं। जीवों में तो परिमित बल होता है, किन्तु आपका बल तो असीम है। यह सम्पूर्ण संसार आप ही की तो अभिव्यक्ति है।

संगति— जब अर्जुन ने जाना कि भगवान् सर्वरूप हैं तो उसे घेत हुआ और उसने सोचा कि इनसे बराबरी का बर्ताव करके मैंने बड़ा अपराध किया है, अतः वह क्षमायाचना करने लगा।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं

हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।

अजानता महिमानं तवेदं

मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥४१॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि

विहारशय्यासनभोजनेषु।

एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं

तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥४२॥



भावार्थ— मैंने आपकी यह महिमा न जानकर और अपना सखा मानकर प्रमाद या प्रीतिवश हठपूर्वक आपसे 'हे कृष्ण! हे यादव! हे सखा!' ऐसा सम्बोधन किया है, तथा आपकी हँसी करने के लिए क्रीड़ा, शयन, आसन और भोजन के समय एकान्त में अथवा दूसरों के सामने आपका अपमान किया है वह सब मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ, क्योंकि आप तो अचिन्त्य प्रभाववाले हैं।

पितासि लोकस्य चराचरस्य

त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो

लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः॥४३॥

भावार्थ— आप इस चराचर जगत् के पिता हैं। आप इसके पूज्य और बड़े से बड़े गुरु हैं। इस त्रिलोकी में आपके समान कोई नहीं है, फिर हे अमितप्रभाव! आपसे बड़ा तो कौन हो सकता है।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं

प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः

प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥४४॥

भावार्थ— आप सर्वसमर्थ और स्तवनीय हैं। अतः मैं साष्टांग प्रणाम करके आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। आप मेरे अपराधों को उसी प्रकार क्षमा कर दें जैसे पिता पुत्र के मित्र, मित्र के और प्रियतम अपनी प्रिया के अपराधों को क्षमा कर देता है।

व्याख्या—प्रश्न—यहाँ 'प्रणिधाय कायम्' (शरीर को लिटाकर) ऐसा क्यों कहा? क्या 'प्रणम्य' कहना पर्याप्त नहीं था।

उत्तर— अर्जुन अपने को अपराधी अनुभव कर रहा था, इसलिये विशेष दैन्य प्रकट करने के लिये साष्टांग प्रणाम किया। यहाँ तीन उदाहरण देकर यह सूचित किया है कि आप पिता हैं मैं पुत्र हूँ,



जीव ईश्वर का सखा है और आप ईश्वर हैं मैं जीव हूँ तथा आप प्रियतम (पुरुष) हैं मैं प्रिया (प्रकृति) हूँ।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा

भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।

तदेव मे दर्शय देव रूपं

प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

भावार्थ— हे देव! पहले कभी न देखे हुए आपके इस रूप को देखकर मैं बड़ा हर्षित हूँ और साथ ही भय से मेरा मन घबरा रहा है। अतः हे देवेश्वर! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइये और मुझे अपना वही रूप दिखाइये।

व्याख्या— यहाँ अर्जुन ने हर्ष और भय दोनों व्यक्त किये हैं। भगवान् का वैभव देखकर तो उसे हर्ष हुआ किन्तु उस विकराल स्वरूप को देखकर भय भी हो रहा था। वैभव यही था कि भगवान् सब कुछ करते हुए भी अकर्ता हैं तथा सगुण साकार होते हुए भी निर्गुण निराकार हैं। इस प्रकार वे सभी विरुद्ध धर्मों के आश्रय और सर्वधर्मातीत हैं।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-

मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन

सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

भावार्थ— हे सहस्र भुजाओं वाले विश्वरूप! आप उस चतुर्भुज रूप में ही हो जाइये। मैं उसी प्रकार आपको मुकुट धारण किये तथा हाथ में गदा और चक्र लिये देखना चाहता हूँ।

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं

रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।



तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं

तन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

भावार्थ— भगवान् ने कहा—हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर अपनी योग-शक्ति से तुम्हें यह अपना आदि-अन्त से रहित, तेजोमय, सर्वोत्कृष्ट विश्वरूप दिखलाया है, इसे पहले और किसी ने नहीं देखा।

व्याख्या—प्रश्न— भगवान् कहते हैं कि पहले यह रूप और किसी ने नहीं देखा। परन्तु कौशल्या, यशोदा आदि ने भी तो भगवान् के मुख में सम्पूर्ण विश्व देखा था। फिर ऐसा क्यों कह रहे हैं।

उत्तर— कौशल्या और यशोदा ने जो रूप देखे थे उनसे उन्हें भय और विस्मय तो हुआ, परन्तु उनसे उन्हें उनकी भगवत्ता का बोध नहीं हुआ। परन्तु अर्जुन को तो भगवान् के यथार्थ स्वरूप का बोध हो गया और उसने जान लिया कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और उसके उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय के स्थान ये ही हैं। इनसे भिन्न सविशेष-निर्विशेष कुछ भी नहीं है।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै

र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।

एवंरूपः शक्य अहं नृलोके

द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

भावार्थ— हे कुरुश्रेष्ठ! तुम्हारे सिवा मुझे ऐसे रूप में और कोई भी वेद और यज्ञों के अध्ययन, दान, कर्मकाण्ड या उग्र तपस्या के द्वारा भी नहीं देख सकता।

व्याख्या— यहाँ 'वेद-यज्ञाध्ययन' एक पद है। इसलिये यज्ञ का भी यहाँ अध्ययन ही अभिप्रेम है। यज्ञानुष्ठान की विधि को सीख जाना यज्ञाध्ययन है। तात्पर्य यह है कि अत्यन्त कष्टसाध्य और अर्थसाध्य होने पर भी क्रिया-कलापों से मेरा दर्शन नहीं हो सकता। वह तो ज्ञान या भक्ति के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।



मा ते व्यथा मा च विमूढभावो

दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।  
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं

तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

भावार्थ— मेरे इस भयंकर रूप को देखकर तुम घबराओ मत और मूढभाव को भी प्राप्त मत होओ। अब भय छोड़कर प्रसन्नचित्त से तुम फिर मेरा वही (वासुदेव) रूप देखो।

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा

स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।

आश्वासयामास च भीतमेनं

भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

भावार्थ— संजय ने कहा— अर्जुन से ऐसा कहकर वासुदेवनन्दन परमात्मा श्रीकृष्ण ने उन्हें पुनः अपना निजी रूप दिखलाया और इस प्रकार पुनः सौम्य रूप धारणकर भयभीत अर्जुन को धैर्य बँधाया।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।

इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

भावार्थ— अर्जुन ने कहा— जनार्दन! आपके इस शान्त मनुष्यरूप को देखकर अब मैं होश में आ गया हूँ और अपनी स्वभाविक स्थिति में स्थित हूँ।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्ट्वानसि यन्मम।

देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

भावार्थ— श्री भगवान् ने कहा— तुमने मेरा जो रूप देखा है उसका दर्शन होना अत्यन्त कठिन है। इस रूप के दर्शन की देवता लोग भी सर्वदा इच्छा करते हैं।



व्याख्या— अर्जुन को भगवान् ने विराट रूप दिखलाया तो वह घबरा गया, क्योंकि अपने इष्ट को न देख पाने पर घबराहट होती ही है। अर्जुन का तो भगवान् के कृष्ण रूप में ही राग था, विराट रूप में तो राग था नहीं। अतः वह घबरा गया और पुनः पूर्व रूप दिखलाने की ही प्रार्थना की। इस पर भगवान् ने अपना पूर्व रूप दिखलाया और कहा कि मेरा विराट रूप अत्यन्त दुर्दर्श है, इसके दर्शन देवताओं को भी नहीं होते, क्योंकि वे भोगी होते हैं। इसे तो योग दृष्टि से ही देखा जा सकता है। वह योग-दृष्टि यद्यपि तुम्हें प्राप्त नहीं थी, परन्तु तुम मेरे भक्त और सखा हो इसलिये मैंने स्वयं अपने योगबल से वह योग-दृष्टि या दिव्य-दृष्टि देकर तुम्हें इसका दर्शन कराया। मेरे वास्तविक स्वरूप को तो वैराग्यवान् जिज्ञासु ही देख सकते हैं। दूसरे लोग इच्छा तो करते हैं, किन्तु उनका ऐसा भाग्य कहाँ जो वे उसका साक्षात्कार कर सकें—

दृष्टं स्पष्टमपीत्थमेव विदितं स्वर्णं दरिद्रैर्जनैः  
सत्ता त्वस्य न लभ्यते हतभगैर्भाग्यं बिना सर्वदा।  
आत्मा तद्वदसौ श्रुतोऽपि च मतो ज्ञातोऽपि नो लभ्यते  
साक्षात्केवलं चिद्घनो विषयिभिर्वैराग्यभाग्यं बिना॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।

शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥५३॥

भावार्थ— तुमने मुझे जैसा देखा है वैसा मैं वेदाध्ययन, तपस्या, दान या यज्ञ करने से भी नहीं देखा जा सकता।

संगति—मैं क्या करने से देखा जा सकता हूँ—यह अब बताते हैं—

दरिद्री लोग सुवर्ण को उसी रूप में देखते हैं और जानते हैं किन्तु भाग्य के बिना उन अभागों को उसका अधिकार प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार इस आत्मा को जानते हुए भी विषयी लोग श्रवण, मनन और ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी वैराग्य रूप भाग्य के बिना साक्षात् विशुद्ध चिद्घन रूप से अनुभव नहीं कर पाते।



भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।  
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥५४॥

भावार्थ— हे परन्तप अर्जुन! तत्त्वतः ऐसा तो मैं अनन्य भक्ति के द्वारा ही जाना और देखा जा सकता हूँ तथा प्रवेश भी किया जा सकता हूँ।

व्याख्या— जो मेरी अनन्य भक्ति करते हैं अर्थात् मुझे इष्ट मानकर मेरा ही चिन्तन करते और मुझ पर ही अवलम्बित रहते हैं। इस प्रकार भोग, मोक्ष या सिद्धियों की कामना छोड़कर मेरी प्रेमलक्षणा भक्ति करते हैं, वे ही मुझे जान या देख सकते हैं। अथवा जिनकी दृष्टि में आत्मा से अतिरिक्त अन्य सत्ता का अत्यन्ताभाव है वे ही गुरु और शास्त्र की कृपा से मुझे यथार्थ जान सकते हैं। तथा वे ही मुझे 'द्रष्टुम्' अर्थात् मेरे ऐश्वर्य का ज्ञान अथवा स्वरूप का साक्षात्कार करने में तथा 'प्रवेष्टुम्' अर्थात् मुझमें प्रवेश करने में—मेरे स्वरूप में लीन होने में समर्थ हैं। परन्तु साधक का काम तो भगवान् का भजन करना ही है, लय कर लेना या मिला लेना तो भगवान् का ही काम है। जैसे स्वयंवर में जौहर तो सभी राजा दिखलाते हैं, परन्तु वरण करना तो राजकुमारी का ही काम है। यहाँ शुद्ध प्रेमलक्षणा भक्ति का निरूपण किया गया है।

इस श्लोक का ज्ञानपरक अर्थ इस प्रकार होगा। जो एकनिष्ठ होकर आत्मा के अतिरिक्त और सबको असत् जानते हैं, वे ही मुझे तत्त्वतः जानने में समर्थ होते हैं। जानने की क्रिया दूर रहने पर होती है, इसलिये उन्हें परोक्ष ज्ञान होता है और फिर वे ही मुझे जानकर देखने अर्थात् अपरोक्ष रूप से अनुभव करने में समर्थ होते हैं। ऐसा अनुभव मुझे समीप से अर्थात् आत्मस्वरूप से देखने पर होता है। यहाँ 'तत्त्वेन' पद को 'ज्ञातुम्' 'द्रष्टुम्' और 'प्रवेष्टुम्' तीनों के साथ जोड़ना चाहिये, क्योंकि आत्मा को जानना, देखना या उसमें प्रवेश करना तत्त्वदृष्टि से ही होता है। 'प्रवेष्टुम्' का अर्थ है गाढ़ आत्माकार



वृत्ति करना। ध्यान करते-करते जब गाढ़ वृत्ति होने पर दृश्य की सर्वथा प्रतीति नहीं रहती तभी तत्त्वतः आत्मा में प्रवेश समझना चाहिये।

**संगति—** भगवान् ने ४८ वें और ५३ वें श्लोक में अपना यथार्थ रूप से जानना और देखना बहुत कठिन बताया और ५४ वें में इसका मुख्य साधन अपनी अनन्य भक्ति बतलायी। अब अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि वह अनन्य भक्ति किस प्रकार प्राप्त हो सकती है।

**मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।**

**निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥५५॥**

**भावार्थ—** हे पाण्डव! जो मेरे लिए ही कर्म करने वाला है, मेरे ही परायण है, मेरा ही भक्त है, आसक्ति से रहित है और किसी भी प्राणी से वैर नहीं करता, वही मुझे प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** जो 'मत्कर्मकृत्' अर्थात् मेरी ही प्राप्ति के लिये श्रौत-स्मार्त एवं शास्त्रविहित कर्म करने वाला है, अथवा भगवदर्पण बुद्धि से निष्काम कर्म करता है। फिर 'मत्परमः' कहकर इसी का विशेषण देते हैं। अर्थात् जो मेरे ही परायण है। जिसे मेरी प्राप्ति की तीव्र इच्छा है, अथवा सब ओर से चित्त हटाकर जो मेरे अतिरिक्त अथवा आत्मा से भिन्न और किसी की सत्ता नहीं देखता। तथा 'मद्भक्तः', मेरा ही भक्त है, जिसकी मेरी सेवा-पूजा में ही निष्ठा है। 'सङ्गवर्जितः'—सङ्गरहित अर्थात् विषयासक्ति से रहित है, हानि-लाभ से निर्भय रहने वाला है। तथा 'निर्वैरः' अपना अपकार करने वाले से भी वैर नहीं करता वही मुझे प्राप्त होता है। जब तक ये गुण नहीं आते तब तक कोई सच्चा भक्त नहीं हो सकता। मुझमें आसक्ति होने पर फिर किसी में आसक्ति नहीं रहती, क्योंकि आसक्ति स्वार्थ से होती है और भक्त का कोई स्वार्थ नहीं रहता। वह निष्काम कर्मयोगी होता है और आसक्तिशून्य होने के कारण ही उसका किसी से वैर नहीं रहता।



अथवा जब 'मत्कर्मकृत्' होगा तभी मेरे परायण होगा, जब मेरे परायण होगा तभी मेरा भक्त होगा, मेरा भक्त होगा तभी आसक्तिशून्य होगा, और आसक्तिशून्य होने पर ही उसका किसी से वैर नहीं होगा। अथवा सब कुछ भगवान् की ही विभूति देखने से ही वह निर्वैर होगा। अथवा जब सम्पूर्ण संसार को एक सत्ता में देखेगा तब निर्वैर हो जायगा। जो निष्काम कर्म करने वाला होगा उसमें भी ये सब गुण आ जायेंगे। यहाँ 'मत्कर्म' से कर्मजनित उपासना और 'मत्परमः' से ध्यानजनित उपासना समझनी चाहिये। व्यवहार करते हुए सम्पूर्ण कर्म भगवान् को अर्पित कर दे, यही गृहस्थ का 'मत्कर्म' है और चिन्तन ही 'मत्परमः' है। यही उसकी भक्ति है।

यहाँ 'मत्कर्मः' 'मत्परमः' 'मद्भक्तः' और 'सद्भवर्जितः' यह तो औषधि है तथा 'निर्वैरः' अनुपान है। भगवत्प्राप्ति के लिये वेदाध्ययन और यज्ञादि तो बाह्य साधन हैं, भक्ति ही अन्तरङ्ग साधन है। अतः भगवान् भक्ति से ही मिलते हैं। भगवान् का विराट् स्वरूप उनका ऐश्वर्य है, इसलिये भक्त उससे डरते हैं। तथा चतुर्भुजरूप माधुर्य है। सुख माधुर्य में है ऐश्वर्य में नहीं।

इस अध्याय में भगवान् के विराट् स्वरूप का वर्णन है। इसलिये इसका नाम विश्वरूपदर्शन योग है। विश्वरूप दर्शन उसे कहते हैं, जिससे यह अनुभव हो कि विश्व रूप में स्वयं भगवान् ही विराजमान हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां  
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे  
विश्वरूपदर्शनयोगो नाम एकादशोऽध्यायः ॥११॥





ॐ

श्री परमात्मने नमः  
श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

## अथ द्वादशोऽध्यायः

संगति— दशवें अध्याय में विभूतियोग कहकर ग्यारहवें अध्याय में ऐश्वर्ययुक्त विश्वरूप दिखलाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने यह सूचित किया कि सारी सृष्टि मेरे ही भीतर है। अतः श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म ही हैं। ग्यारहवें अध्याय के ४६ वें श्लोक में 'सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते' कहकर अर्जुन ने उन्हें सर्वरूप स्वीकार किया है। तथा ३८ वें श्लोक में उन्हें स्पष्ट ही आदिदेव, पुराणपुरुष और इस विश्व का परम आश्रय कहा है— 'त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।'

यह बात तो निश्चित है कि उपासना भेददृष्टि के बिना नहीं होती। लौकिक-अलौकिक सब व्यवहार भेददृष्टि से ही होते हैं। उपासना भी उन्हीं के अन्तर्गत है। सगुण और निर्गुण भेद से उपासना दो प्रकार की है। राम-कृष्णादि अवतारों की, विराट् और हिरण्यगर्भ की तथा शब्दादि की उपासनाएँ सगुण के अन्तर्गत हैं तथा भगवान् के अव्यक्त और अचिन्त्य गुणातीत स्वरूप की उपासना निर्गुणोपासना है। इन दोनों में कौन उपासना श्रेष्ठ है—यह जानने के लिये अर्जुन प्रश्न करता है।

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।

ये चाप्याक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥१॥

भावार्थ—अर्जुन बोला—जो भक्त इस प्रकार निरन्तर योगयुक्त होकर सब प्रकार आपकी उपासना करते हैं और जो अविनाशी निराकार स्वरूप की उपासना करते हैं, उन दोनों में श्रेष्ठ योग जानने वाला कौन है?



**व्याख्या—** तात्पर्य यह कि अध्याय ९ से ११ तक बतलाये हुए सगुण साकार रूप की उपासना करने वाले और द्वितीय आदि अन्य अध्यायों में वर्णित निर्गुण निराकार स्वरूप की उपासना करने वालों में कौन श्रेष्ठ है। गीता में इन दोनों उपासनाओं का स्थान-स्थान पर वर्णन है। दोनों ही प्रकार की उपासना करने वाले अनेकों पुरुष हैं, इसलिये उनको सूचित करने के लिये बहुवचन का प्रयोग किया गया है। दो की तुलना होने पर 'तमप्' प्रत्यय होता है किन्तु यहाँ 'योगवित्तमाः' में 'तमप्' प्रत्यय दिया है। इससे सूचित होता है कि अर्जुन सर्वश्रेष्ठ उपासक को जानना चाहता है, वह इन दो प्रकार के उपासकों में से हो अथवा इनसे भिन्न कोई और हो। अर्जुन के इस आशय को लक्ष्य करके भगवान् भी 'तमप्' प्रत्यय में ही उत्तर देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

**मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।**

**श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥२॥**

**भावार्थ—** भगवान् बोले—जो लोग मुझमें मन लगाकर नित्य युक्त हुए अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मेरी (मेरे सगुण साकार रूप की) उपासना करते हैं, मेरे मन में वे ही युक्ततम (सबसे श्रेष्ठ योगी) हैं।

**व्याख्या—** सम्पूर्ण गीता में 'परम श्रद्धा' पद यहीं आया है। 'मयि' का तात्पर्य सगुण-निर्गुण दोनों में लग सकता है, परन्तु यहाँ सगुण रूप ही अभिप्रेत है, क्योंकि 'यहाँ भगवान् साक्षात् अर्जुन के सामने खड़े होकर अपने ही लिये 'मयि' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। अतः इसका तात्पर्य है कि जो मुझ वासुदेव में श्रद्धापूर्वक चित्त लगाकर मेरी ही उपासना करते हैं वे ही श्रेष्ठ योगी हैं। इस प्रकार यहाँ स्पष्टतया सगुण उपासना का निर्देश है। वेद और पुराणों में भी सगुण का प्रतिपादन है; जैसे 'एकोऽहं बहु स्याम्' स एकधा भवति स द्विधा भवति स पञ्चधा भवति' इत्यादि बहुत-सी श्रुतियाँ हैं। परन्तु दर्शनों में सगुण का प्रतिपादन नहीं है, उनमें प्रधानतया निर्गुण का ही प्रतिपादन किया है, क्योंकि उनमें विवेक की ही प्रधानता है। परम



तत्त्व की सगुणता को दर्शनों ने अध्यारोपित ही माना है। भाव से तो भगवान् की सगुणता मानी जा सकती है, किन्तु विवेक या तर्क से तो वे निर्गुण ही सिद्ध होते हैं।

शास्त्रों में भगवान् को निराकार और सृष्टिकर्ता माना है, परन्तु वास्तव में संसार की उत्पत्ति निर्गुण निराकार से भी नहीं हो सकती; कहा भी है—

अनाख्योऽप्रतिघः स्वात्मा निराकारो य ईश्वरः।

स करोति जगदिति हासायैव वचोऽधियाम्॥

अर्थात् जो नाम-रूप से रहित अपना अनावृत आत्मा निराकार ईश्वर है वही सृष्टि रचता है—ये बुद्धिहीनों के वचन हँसी के योग्य ही हैं।

अतः सृष्टि आत्मा से भी नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मा अकर्ता है। यदि कहो कि स्वप्न की सृष्टि का कर्ता तो वही है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि कोई भी स्वप्न देखने वाला स्वप्न से पहले यह संकल्प नहीं करता कि मैं स्वप्न देखूँ अथवा रचूँ। स्वप्न तो स्वयं ही देखने लगता है। अतः स्वप्नद्रष्टा स्वप्न का कर्ता नहीं होता। वास्तव में स्वप्न बनाने वाला, स्वप्न-पुरुष और स्वप्न-द्रष्टा सब कुछ वही है। अर्थात् स्वप्न-सृष्टि बनती नहीं, वह स्वप्न-द्रष्टा में कल्पित है और कल्पित वस्तु अपने अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती। इस प्रकार सिद्ध यह हुआ कि एक आत्मसत्ता के अतिरिक्त कुछ भी न है न हुआ है। परन्तु यह बात बहुत कठिनता से समझ में आती है। सृष्टि और सृष्टिकर्ता एक ही हैं—भला यह बात कैसे समझ में आयेगी। अतः भगवान् को श्रद्धा से ही मानना होगा। इसी से भगवान् ने यहाँ कहा है कि जो परम श्रद्धा से युक्त होकर मुझ में चित्त लगाते हैं वे ही श्रेष्ठतम योगी हैं।

संगति— अब निर्गुणोपासकों के विषय में कहते हैं—  
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्त पर्युपासते।  
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥३॥



संनियम्येन्द्रिग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।  
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥४॥

भावार्थ— और जो इन्द्रियों का निग्रह कर सर्वत्र समबुद्धि

रखकर सब ओर व्यापक, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव (नित्य सत्य) अव्यक्त और अनिर्देश्य अक्षर की उपासना करते हैं, सम्पूर्ण प्राणियों के हित में निरत वे लोग भी मुझे ही प्राप्त करते हैं।

व्याख्या— सब भूतों के हित में निरत वही होगा जो राग-द्वेष से रहित होगा। भक्तों का कोई स्वार्थ नहीं होता, इसलिये उनमें राग-द्वेष भी नहीं होता। वे तो सब का हित ही चाहते हैं। उनका तो यही संकल्प रहता है कि सब भगवान् के भक्त हो जायँ, सब निरंतर भजन करें, क्योंकि भगवान् के भजन से बढ़कर प्राणियों का और कोई हित नहीं है ऐसी समदृष्टि बिना भगवत्साक्षात्कार हुए नहीं हो सकती। इसके लिये संयम की बहुत आवश्यकता है। समदृष्टि होने के कारण ही भक्त को सबका हितैषी कहा गया है।

अथवा आत्मा ही सब भूतों का हित है और उसमें वे रत रहते हैं, इसी से उन्हें 'सर्वभूतहिते रताः', कहा गया है। तथा इसी कारण वे सबको प्रिय भी लगते हैं। सभी का आत्मा कामादि दोषों से रहित है और ये ही लक्षण उनमें भी घट जाते हैं, अतः स्वस्वरूप होने के कारण वे भी सबको प्रिय लगते हैं। अथवा वे किसी से प्रेम न करके केवल आत्मा से ही प्रेम करते हैं और आत्मा सबका एक है, इसलिए उनका सबसे प्रेम हो जाता है और वे भी सबको प्रिय होते हैं। यही 'सर्वभूतहिते रताः' का तात्पर्य है।

प्रश्न— यहाँ 'कूटस्थ' के पश्चात् 'अचल' कहने की क्या आवश्यकता थी?

उत्तर— कूटस्थ तो माया भी है, परन्तु वह अचल नहीं है, क्योंकि ज्ञान होने पर वह निवृत्त हो जाती है।

संगति— इस प्रकार भगवान् ने निराकार उपासना का भी समर्थन किया और 'एव' शब्द का प्रयोग करके बतलाया कि उन्हें भी



भगवान् अवश्य मिल जाते हैं। परन्तु वह कष्टसाध्य है—यह बात अगले श्लोक में बतलाते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

भावार्थ— अव्यक्त में आसक्तचित्त उन लोगों को कठिना अधिक होती है, क्योंकि देहाभिमानी पुरुषों का अव्यक्त की ओर जाना कठिन है। [ इससे सिद्ध होता है कि विवेकियों के लिये यह उपासना सुगम है। ]

व्याख्या— अव्यक्त अर्थात् अभाव भी प्रत्यक्ष है, जैसे घटा-भाव सभी को प्रत्यक्ष होता है। हम सभी घट आदि किसी वस्तु के अभाव को जानते हैं, तभी तो कहते हैं कि अमुक वस्तु नहीं है। नैयायिकों ने अभाव को भी एक पदार्थ माना है। भाव सर्वदा अपने अभाव में रहता है, उसकी अपनी सत्ता नहीं होती।

प्रश्न— यदि भाव की सत्ता नहीं होती तो वास्तव में भाव है क्या? दूसरे लोग भी भाव को मिथ्या बताते हैं।

उत्तर— अरे! भाव या अभाव को मिथ्या तो परमार्थ-दृष्टि से कहा जाता है। भाव और अभाव दोनों प्रतीतियाँ हैं और व्यवहार-दृष्टि से सत्य भी है। परन्तु यह सत्य और मिथ्या का विवेचन तो दृष्टि-भेद से है। वस्तुतः तो सब कुछ वही है। भाव भी तो ज्ञान के ही अन्तर्गत है। ज्ञान समुद्र है तो भाव तरङ्ग है। तरङ्ग क्या समुद्र से भिन्न है। अतः सब ज्ञानमात्र है। पहले मकान संकल्प रूप में रहता है, फिर वही मूर्तरूप धारण करता है। इसी प्रकार भगवान् पहले भक्त की भावना में आते हैं फिर प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं। इस प्रकार भावुक ही तो भगवद्रूप से सामने आता है और वह स्वयं ही अपनी अर्चना-वन्दना करता है। अतः तत्त्वदृष्टि से भक्त और भगवान् एक ही हैं तथा दोनों ही सत्य हैं। 'भाव' शब्द की निष्पत्ति सत्तावाचक 'भू' धातु से होती है। अतः इसे कल्पना या असत् नहीं कह सकते।



संगति— इस प्रकार सगुण और निर्गुण दोनों उपासनाओं का समर्थन कर अब भगवान् उपासना का स्वरूप बतलाते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।  
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।  
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

भावार्थ— हे पार्थ! जो सब कार्यों को मुझे अर्पित करके मेरे परायण हो अनन्य भाव से मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, मेरे में मन लगाने वाले उन भक्तों का मैं शीघ्र ही इस मृत्युरूप संसार-सागर से उद्धार कर देता हूँ।

व्याख्या— अनन्य भाव से ध्यान करने का अर्थ है कि मेरे सिवा और किसी का चिन्तन न हो। यद्यपि राजस और तामस पदार्थों की अपेक्षा तो सात्त्विक वस्तुओं से राग होना अच्छा है, परन्तु भगवद्भजन में तो वह भी बाधक है। इसलिये भजन करने वालों को सावधान रहना चाहिये कि कहीं सात्त्विक वस्तु या सात्त्विक पुरुषों में उनका राग न हो जाय। इसी दृष्टि से यहाँ 'अनन्य चिन्तन' की बात कही है। जहाँ अनन्य शब्द आवे वहाँ एकनिष्ठता समझनी चाहिए। इसी प्रकार जहाँ 'संन्यस्य' शब्द प्रयोग हो वहाँ आत्म-निवेदन समझें।

प्रश्न— आत्म-निवेदन का क्या स्वरूप है?

उत्तर— निरन्तर भगवदाकार वृत्ति का प्रवाह और संसाराकार वृत्ति की निवृत्ति ही आत्म-निवेदन है। जैसे किसी निर्धन की पुत्री का विवाह हो और उसके लिये किसी ने रुपया देना कह दिया हो। घर में कोई सामग्री नहीं है और कल बरात आने वाली है। उस समय जैसे उसके चित्त की वृत्ति रुपया देने वाले की ओर ही लगी रहती है उसी प्रकार चित्त सब ओर से हटकर केवल श्रीभगवान् में ही तल्लीन हो जाय यही आत्मनिवेदन है।

श्रीभगवान् ने सम्पूर्ण गीता में यह कहीं नहीं कहा कि मैं सकाम भक्त का उद्धार कर देता हूँ। उसे तो उसकी इच्छित वस्तु देने की बात



ही कही है। वे सब जगह इसी बात की पुष्टि करते हैं कि मैं उस निष्काम भक्त का ही संसार-सागर से उद्धार करता हूँ जिसका चित्त अनन्य भाव से मुझमें लगा हुआ है। इससे यह सिद्ध हुआ कि निष्काम भक्ति से ही भगवान् की प्राप्ति होती है।

केवल कर्मकाण्ड से भी भगवान् की प्राप्ति का प्रसङ्ग कहीं नहीं मिलता। हाँ ऐसा तो आता है कि निष्काम कर्म से अन्तःकरण शुद्ध होने पर भगवत्प्राप्ति की उत्कट लालसा जाग्रत् होती है। इसी से भगवान् ने 'मां ध्यायन्त उपासते' कहकर 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्' ऐसा कहा है। अर्थात् जो निष्काम भाव से मेरा निरन्तर चिन्तन करते हैं उनका मैं उद्धार कर देता हूँ।

**संगति—** अगला श्लोक इस अध्याय का सार है। इससे बढ़कर भगवत्प्राप्ति का सीधा साधन गीता में और कहीं नहीं आया। आगे के चार श्लोकों में उत्तरोत्तर मन्द अधिकारी के लिये साधन का निर्देश किया है। उत्तम अधिकार को तो ध्याननिष्ठ होना चाहिये। वह अपने इष्ट का चिन्तन करने में लीन रहे। यही अगले श्लोक में बतलाते हैं—

**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।**

**निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥८॥**

**भावार्थ—** तुम मेरे में मन स्थिर करो और मुझमें ही बुद्धि को लगाओ। फिर तो तुम मुझमें ही निवास करोगे—इसमें संशय नहीं।

**व्याख्या—** 'मय्येव मन आधत्स्व'—मेरे में मन लगाओ। अर्थात् निरन्तर मेरा ही चिन्तन, मेरा ही कथन और मेरा ही प्रबोधन आदि करो। 'मयि बुद्धिं निवेशय'—मुझ ही में बुद्धि लगाओ। अर्थात् किसी की भी बातों में आकर अपने इष्ट की सुदृढ़ निष्ठा से विचलित मत होओ। एकनिष्ठ ही रहो। ऐसा दृढ़ संकल्प करो कि भगवान् को प्राप्त करके ही रहूँगा। अथवा संसार असत् है और मैं सत् हूँ—ऐसा निश्चय करके मुझ में ही संलग्न हो जाओ। 'अत ऊर्ध्वं मय्येव निवसिष्यसि'—इसके पश्चात् तुम मुझमें ही निवास करोगे। बुद्धि से ऐसा निश्चय करके यदि मन मुझमें लग जाय तो इससे बढ़कर और कोई साधन नहीं है। गीता में 'अत ऊर्ध्वम्' पद यहीं आया है। इसका



यह भी तात्पर्य है कि इससे ऊपर कुछ नहीं है। इस पर फिर भगवान् मुहर लगाते हैं— 'न संशयः' अर्थात् इसमें सन्देह नहीं है। यहाँ मन-बुद्धि को लगाने का तात्पर्य यह भी हो सकता है।

कि ऐसा अनुभव हो कि मन-बुद्धि की कोई सत्ता नहीं है। परन्तु इसमें भी सत्ता की कुछ झलक है ही। अतः उत्तम तो यही है कि मन-बुद्धि फुरें ही नहीं। किसी भी समय सुख की प्राप्ति या दुःख की निवृत्ति की भी इच्छा न हो। यही मन का निरोध है, जैसा कि अध्याय ४१ के श्लोक २२ में और अध्याय २ के श्लोक ५६ में कहा है। सुख-दुःख है या नहीं—ऐसी वृत्ति भी न रहे—यही मुझमें मन-बुद्धि का लगाना या निरोध है और यही सबसे ऊँचा अभ्यास है। अथवा सुख-दुःख और आत्मा के मध्य में जो सन्धि है वही समवृत्ति है। यह वृत्ति हेयोपादेय भाव से शून्य है। सब कुछ करते हुए भी जो इस वृत्ति में स्थित रहता है वह सबसे ऊँचा अभ्यास है। इसी को निर्गुणोपासना भी कहते हैं।

परन्तु यह प्रसङ्ग भक्तिपरक है, क्योंकि यहाँ भगवान् 'मयि' शब्द का प्रयोग करके साक्षात् अपनी ओर ही इङ्गित कर रहे हैं। तथापि प्रसंगवश निर्गुणोपासना की बात भी कह दी है।

**संगति—** अब अगले श्लोक में जो ध्यान करने में असमर्थ हैं उस मध्यम अधिकारी के लिये भगवान् अपनी प्राप्ति का उपाय बतलाते हैं—

**अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।**

**अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥९॥**

**भावार्थ—** हे धनञ्जय! यदि तुम मुझमें मन को स्थिर न लगा सको तो अभ्यासयोग के द्वारा मुझे प्राप्त करने की इच्छा करो।

**व्याख्या—** भगवान् की ब्राह्म सेवा ही अभ्यास-योग है। अर्थात् मेरी सेवा-पूजा, पाठ, स्वाध्याय, सत्संग और धाम-सेवानादि के द्वारा मुझे पाने का प्रयत्न करो।

१. न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।

२. दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।



संगति— अगला श्लोक कनिष्ठ अधिकारी के लिये है—  
 अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।  
 मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥१०॥

भावार्थ— यदि तुम अभ्यास में भी असमर्थ हो तो मेरे लिये कर्म करने में तत्पर हो जाओ। निष्काम भाव से मेरे लिये वर्णाश्रमोचित कर्म करने पर भी तुम सिद्धि प्राप्त कर लोगे। [अर्थात् तुम्हें मेरी प्राप्ति हो जायगी।]

व्याख्या— कर्म के साथ 'मदर्थ' होने से यहाँ भक्ति सिद्ध होती है, केवल कर्म नहीं। 'सिद्धि' शब्द का अर्थ भी अणिमादि सिद्धि नहीं, अपित् भगवत्प्राप्तिरूप सिद्धि है। यद्यपि भगवत्प्राप्ति के साथ आनुषङ्गिक रूप से अन्य सिद्धियाँ भी आ सकती हैं, परन्तु वे यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥११॥

भावार्थ— यदि तुम ऐसा करने में भी असमर्थ हो तो मेरे योग का आश्रय लेकर एकाग्रचित्त से सब कर्मों का फल त्याग दो।

व्याख्या— यहाँ 'मद्योगमाश्रितः' (मेरे योग का आश्रय लेकर) कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि मेरा स्मरण करते हुए कर्म करो। कर्म तीन प्रकार के हो सकते हैं—(१) भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म, (२) धर्मार्थ कर्म और (३) पापक्षय अथवा विषयासक्ति की निवृत्ति के लिये किये जाने वाले कर्म। इनमें से जो भी कर्म उसे भगवान् का स्मरण करते हुए करो और उसके फल की कामना त्याग दो।

'यतात्मवान्' (संयतचित्त होकर) विशेषण का सम्बन्ध तो उपर्युक्त चारों प्रकार के साधकों के साथ समझना चाहिए।

संगति— अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि इन यतात्मवानों में उत्तरोत्तर कौन श्रेष्ठ है—



श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।  
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥१२॥

भावार्थ— अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है और

ध्यान से भी कर्म फल का त्याग श्रेष्ठ है, त्याग से तत्काल शान्ति प्राप्त होती है।

व्याख्या— अभ्यास अर्थात् भगवान् की सकाम सेवा-पूजादि से, अथवा लोक-दिखावे के लिये ऐसा करने से या भगवद्बुद्धि-शून्य किसी पुष्पादि आकर्षक वस्तु का ध्यान करने से ज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञान से तात्पर्य यहाँ परोक्ष-ज्ञान या साकार भगवान् के मुरलीमनोहरादि स्वरूप का ज्ञान समझना चाहिये। किन्तु भगवान् के स्वरूप का ऐसा ज्ञान प्राप्त करके भी जो अभिमानवश भजन नहीं करते उनसे वे श्रेष्ठ हैं जिन्हें यह ज्ञान भी प्राप्त है और जो भजन-ध्यान भी करते हैं। परन्तु जो किसी कामना की पूर्ति के लिये ध्यान करते हैं उनसे वे श्रेष्ठ हैं जो कर्मफल का त्याग करते हैं, क्योंकि सकाम भाव से भजन करने पर तो काम्य वस्तु ही मिलती है, भगवान् नहीं मिलते। किन्तु फलत्याग करने पर तत्काल शान्ति मिल जाती है। अर्थात् भगवान् की प्राप्ति तो निष्काम होने पर ही होगी, उससे पहले नहीं।

प्रश्न— यहाँ कर्म-फल के त्याग को सबसे श्रेष्ठ क्यों कहा?

उत्तर— क्योंकि फलासक्ति का त्याग किये बिना किसी भी साधन से भगवान् नहीं मिलते। कामना लेकर भजन करने से तो काम्य वस्तु ही मिलती है। फिर उसके भोग में आसक्ति होने से भजन छूट जाता है और भोग ही रह जाता है। तात्पर्य यह है कि वासनापूर्वक ध्यान करने वाले से निर्वासनिक ध्यानी ही श्रेष्ठ है।

यह तो कर्म और भक्ति-परक अर्थ हुआ, अब ज्ञानपरक अर्थ किया जाता है।

जिज्ञासु के अभ्यास (निदिध्यासन) से ज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञान से ध्यान अर्थात् आत्माकार वृत्ति या जीवन्मुक्ति का अभ्यास श्रेष्ठ है। किन्तु यदि कोई जीवन्मुक्ति तो हो, परन्तु अभ्यासकाल में आने वाली



सिद्धियों में फँस जाय तो उसका विक्षेप बढ़ जायगा। इसलिये स्वरूपस्थिति या निर्विकल्प समाधि रूप परमशान्ति की प्राप्ति के लिये सिद्धियों का त्याग आवश्यक है। ये सिद्धियाँ ध्यानाभ्यासरूप कर्म का फल हैं, अतः इनका त्याग ही यहाँ कर्मफल का त्याग है। यद्यपि शान्ति तो ज्ञान होने पर ही प्राप्त हो जाती है। परन्तु व्यावहारिक विक्षेप रहता है, उसकी निवृत्ति निर्विकल्प समाधि होने पर होती है। यहाँ ऐसा अभिप्राय नहीं समझना चाहिये कि ज्ञान की अपेक्षा ध्यान श्रेष्ठ है। इसका तात्पर्य यही है कि केवल ज्ञान ही श्रेष्ठ नहीं उसके साथ समाधि भी हो तो अधिक अच्छा है। कहा भी है—‘ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति’।

इस अध्याय में तत्त्वज्ञान का प्रसंग नहीं है। भक्ति का ही वर्णन है। ‘ज्ञान’ शब्द का प्रयोग भी केवल इसी श्लोक में हुआ है। तथापि यह श्लोक दोनों पक्षों में लग सकता है। भक्त और ज्ञानी के लक्षण प्रायः एक ही होते हैं। कहीं थोड़ा अन्तर रहता है। द्वितीय अध्याय में स्थितप्रज्ञ के लक्षण, तेरहवें अध्याय में ज्ञान के लक्षण और चौदहवें अध्याय में गुणातीत के लक्षण बतलाये हैं। वे प्रायः समान ही हैं। केवल इतना अन्तर है कि ज्ञानी में मैत्री और करुणा नहीं होती, क्योंकि दृश्य के साथ उसका सम्बन्ध नहीं रहता। अतः उसमें अहंता-ममता का अत्यन्ताभाव होता है और सुख-दुःख में भी उसकी समदृष्टि रहती है। भक्त की भी देहादि में तो अहंता-ममता नहीं होती, किन्तु भगवान् से उसका सम्बन्ध रहता है और उनके वियोग में वह अत्यन्त व्याकुल भी हो जाता है। अतः भावपक्ष की प्रधानता रहने के कारण उसमें मैत्री और करुणा भी रहती है।

संगति—अगले सात श्लोकों में भक्त के लक्षण बतलाये गये हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥१३॥

भावार्थ—सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति द्वेष न रखने वाला, मित्र भाव से युक्त, करुणामय, ममताशून्य, अहंकाररहित, दुःख-सुख में समान और क्षमाशील।



व्याख्या— भगवान् मनु कहते हैं—

३६१

क्रुध्यन्तं प्रति न क्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।  
अतिवादांस्तिक्षेत् नावमन्येत किञ्चन॥९॥

अर्थात् जो अपने प्रति क्रोध करने वाले पर क्रोध न करे वह अद्वेषा है। परन्तु यह भी उत्तम पक्ष नहीं है। उत्तम तो वह है कि उल्टे उसका उपकार करे। महाभारत में कहा है—

अद्वेषः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।  
अनुग्रहं च दानं च शीलमेतत्प्रचक्षते॥१०॥

योगदर्शन में कहा है—“मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख-

पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्’ अर्थात् जो सुखी है उनके प्रति मित्रता की भावना करने से, जो दुःखी हैं उन पर करुणा करने से, पुण्यवानों को देखकर प्रसन्न होने से और पापियों की उपेक्षा करने से चित्त शुद्ध होता है। ये ही भक्तों के लक्षण हैं। भक्त में अहन्ता-ममता रहती हैं, परन्तु उसकी अहन्ता अपने चिन्मय भाव-शरीर में होती है और ममता अपने इष्ट में होती है। भजन करते-करते भक्त का शरीर चिन्मय हो जाता है, स्थूल नहीं रहता। जैसे बीज को नष्ट करके ही नवीन अंकुर निकलता है। जिसमें ‘अद्वेषा सर्वभूतानाम्’ यह लक्षण घटे वही भक्त है और वही ज्ञानी है। ज्ञानी इसलिये अद्वेषा होता है क्योंकि दृश्य के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी से उसमें करुणा और मैत्री—ये दो गुण नहीं पाये जाते, क्योंकि उसे आत्मतत्त्व के सिवा और किसी की सत्ता ही नहीं भासती। भक्त में इसलिये राग-द्वेष नहीं होते, क्योंकि उसकी भगवान् में प्रीति होती है। ‘सिया-राम मय सब जग जानी’ अर्थात् वह सम्पूर्ण संसार को सिया-राम मय देखता है। इसलिये उसे संसार से अभय प्राप्त हो जाता है और अन्य

अपने प्रति जो क्रोध करे उस पर क्रोध न करे, कोई गाली दे तो उससे मीठा बोले, अपनी निन्दा को सहन करे और किसी का अपमान न करे।  
१० मन वचन और कर्म से सभी प्राणियों से द्वेष न करना तथा दूसरों के प्रति दया और दानशीलता है—यही शील कहा जाता है।



सबको भी वह अभय-दान देता है। सम्पत्ति-विपत्ति दोनों ही अवस्थाओं में उसका मन भगवान् के चरण-कमलों को छोड़कर कहीं नहीं जाता। दुःख के समय भक्त समझता है कि भगवान् मेरी परीक्षा कर रहे हैं कि यह अपनी निष्ठा से विचलित तो नहीं होता इसके विश्वास में कोई कमी तो नहीं आती। तथा सुख के समय वह भगवान् का अनुग्रह देखता है। उसे निरन्तर ऐसी दशा प्राप्त होती रहती है कि उसके हृदय में भगवान् का ध्यान, शरीर में रोमाञ्च, जिह्वा में भगवन्नाम और नेत्रों से जल-प्रवाह होते रहते हैं। इसे भी वह भगवान् की कृपा का ही प्रसाद मानता है।

**सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।**

**मय्यर्पित मनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१४॥**

**भावार्थ—** मेरा जो भक्त सर्वदा सन्तुष्ट है, समाहितचित्त है, मन इन्द्रिय और शरीर को वश में रखने वाला है, दृढ़ निश्चयवान् है तथा मुझमें ही जिसने मन और बुद्धि लगा दिये हैं, वही मेरा प्रिय है।

**व्याख्या—** सबसे पहले वैराग्य की आवश्यकता है, क्योंकि वैराग्य से ही संसाररूप वृक्ष कटेगा। अर्थात् धीरे-धीरे प्रवृत्ति कम करने पर सांसारिक वस्तुओं की इच्छा कम होगी। यही है सन्तोष। अतः भगवान् कहते हैं कि मेरा जो भक्त सर्वदा सन्तुष्ट है वह मुझे प्रिय है। इसके साथ जो समाहितचित्त तथा इन्द्रिय-निग्रह के साथ अध्याय ६ श्लोक १३ के अनुसार दृढ़ आसनवाला है तथा निश्चयात्मिक बुद्धिवाला है वही मुझे प्रिय है। किन्तु ऐसा वह तभी हो सकता है जब वह 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' हो। अर्थात् उनके मन और बुद्धि मुझमें ही लगे हों।

यहाँ जो लक्षण बतलाये गये हैं उनमें 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' ही मुख्य है, अन्य लक्षण गौण हैं। भगवान् में मन-बुद्धि लगे न होने पर ही अनेकों झंझट बढ़ जाते हैं। नहीं तो संसार में साधु का द्वेषी कोई नहीं होता। इसीसे भगवान् अब बतलाते हैं कि साधु कैसा होना चाहिए।



यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।  
हर्षमर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥१५॥

भावार्थ— जिससे लोक उद्विग्न नहीं होता और जो लोक से मुझे प्रिय है।

उद्विग्न नहीं होता तथा जो हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेग से रहित है वह मुझे प्रिय है।

व्याख्या— यह श्लोक अत्यन्त रहस्य पूर्ण और अति उत्तम है, भगवान् ने कहा है कि जिससे कोई उद्विग्न न हो, परन्तु ऐसा प्रायः देखा नहीं जाता। अवतारों और आचार्यों से भी सब प्रसन्न नहीं रहे तथापि महात्मा का आदर्श यही होना चाहिये। उसकी दृष्टि, मन, वाणी और शरीर सभी में मधुरता रहनी चाहिये। यदि उसके पास कोई पाप-बुद्धि से आवे तो वह भी शान्त हो जाय, उद्वेग का नाम भी न रहे। किन्तु महात्मा में ऐसा प्रभाव तभी आ सकता है जब उसे ऐसा अनुभव हो कि मैं सबसे असङ्ग हूँ, सब मेरा है, सब मुझमें है, सब नहीं मैं ही हूँ अथवा ऐसी धारणा हो कि न सब है और न मैं हूँ, एकमात्र मेरे भगवान् ही हैं, सब कुछ उन्हीं का लीला-विलास है, सब रूपों में वही लीला कर रहे हैं। यहाँ जो 'मैं' शब्द का प्रयोग हुआ है वह शुद्ध अहं के अर्थ में है देहादि के अभिमानी के अर्थ में नहीं। भक्त को यह सारा संसार भगवान् के नाटक के समान प्रतीत होना चाहिये। नाटक में जो खलनायक की भूमिका करते हैं वे क्या वास्तव में दुष्ट होते हैं। नाटक में जो चोर की भूमिका करता है उसे चोर तो नाटक में थानेदार की भूमिका करने वाला ही देखेगा दर्शक क्यों चोर देखेगा भक्त के लिये तो यह जगन्नाटक भगवान् की ही लीला है। जिसको ऐसा अनुभव होता है उसमें हर्ष, भय, क्रोध और उद्वेग आदि दोष नहीं रहते। वह तो निरन्तर परमानन्दमय भगवद्ध्यान में निमग्न रहता है और सबमें अपने प्रियतम की ही झांकी करता है। उसे दूसरी बात सोचने का अवकाश ही नहीं होता। उस परमानन्द से बढ़कर उसे किसी वस्तु या स्थिति में सुख नहीं जान पड़ता, इसलिये उसमें हर्ष नहीं होता, देहाभिमान न रहने के कारण उसमें क्रोध नहीं होता, सर्वत्र



भगवद्दृष्टि रहने के कारण उसे भय नहीं होता और सब कुछ भगवान् की लीला देखने के कारण उसे उद्वेग नहीं होता। इसी से भगवान् कहते हैं कि जो ऐसे लक्षणों से सम्पन्न भक्त हैं वही मुझे प्रिय है।

**प्रश्न—** पहले भगवान् या आत्मा में प्रेम होता है या ये लक्षण आते हैं?

**उत्तर—** यह ऐसा ही प्रश्न है जैसे कोई पूछे कि पहले मनुष्य जागता है या पहले निद्रा दूर होती है। वस्तुतः दोनों एक साथ ही तो होते हैं।

**अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।**

**सर्वारम्भपरित्यागी यो मदभक्तः स मे प्रियः॥१६॥**

**भावार्थ—** मेरा जो भक्त, सम्पूर्ण कामनाओं से रहित, बाह्य और आन्तर शुद्धि से सम्पन्न, दक्ष, संसार से उदासीन, व्यथारहित और सब प्रकार के आरम्भों को त्यागने वाला हो वह मुझे प्रिय है।

**व्याख्या—** अनपेक्षः—जो आवश्यकता होने पर भी कुछ नहीं लेता, ब्रह्मलोक तक के भोगों की जिसे परवाह नहीं है। श्रीमद्भागवत में भी भगवान् ने अपने भक्त को अनपेक्ष बतलाया है—

**ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मदभक्तो वाऽनपेक्षकः।**

**सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः॥१७॥**

**‘शुचिः—** इस संसार में सभी अशुचि (अपवित्र) हैं, केवल साधु ही पवित्र हैं। शरीर, मन और वाणी तीनों ही की पवित्रता होनी चाहिये। उनका विवरण इस प्रकार है—

**शरीर की पवित्रता—(मुख्य)—** हिंसा, चोरी व्यभिचार आदि दोषों से बचना।

**(गौण)—** जल, मृत्तिका आदि से होने वाली शुद्धि।

जो ज्ञाननिष्ठ विरक्त अथवा मेरा अनपेक्ष भक्त हो वह चिन्हों के सहित सभी आश्रमों को त्यागकर विधिका विचार न रखते हुए स्वच्छन्द विचरे।



**वाणी की पवित्रता**— अश्लील एवं अशिष्ट शब्दों का प्रयोग न करना, असत्य, कठोर और असम्बद्ध भाषण न करना तथा व्यर्थ न बोलना।

**मन की पवित्रता**— राग-द्वेष न करना, किसी का अनिष्ट न चाहना, देह में आत्म-बुद्धि न करना, तथा परस्त्री के प्रति कुदृष्टि न करना।

जिनमें ये तीनों प्रकार की पवित्रताएँ हों वे ही साधु हैं और वे ही पवित्र हैं। ऐसे महात्माओं के दर्शन और स्पर्शमात्र से ही संसार पवित्र हो जाता है। श्रीमद्भागवत में भगवान् कहते हैं—

**निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शिनम्।**

**अनुब्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥**

अर्थात् जिसे किसी प्रकार की इच्छा नहीं है तथा जो शान्त, निर्वैर और समदर्शी है उस मुनि के पीछे-पीछे मैं सर्वदा चलता रहता हूँ जिससे उसकी चरण-धूलि से मैं पवित्र हो जाऊँ।

ऐसा सन्त—

**यद्यत्स्पृशति पाणिभ्यां यद्यत्पश्यति चक्षुषा।**

**स्थावराण्यपि मुच्यन्ते किं पुनः पामरा जनाः॥**

जिस-जिस को हाथों से छू देता है और जिस-जिस को नेत्रों से देख लेता है वह स्थावर (वृक्षादि जड़ पदार्थ) भी मुक्त हो जाते हैं; पामर मनुष्यों की तो बात ही क्या है।

**दक्षः**—कुशल, जो सब कार्य यथावत् करते हुए भी निर्लिप्त रहता है। अथवा जो जानते हुए भी चुप रहता है, विवाद में नहीं पड़ता।

**उदासीनः**— जिसका किसी पक्ष से सम्बन्ध न हो।

**गतव्यथः**— किसी प्रकार का अपमान या दुर्व्यवहार होने पर भी जिसे कोई विक्षेप न हो, क्योंकि वह संसारी लोगों को बालक या विवेकहीन देखता है।

**सर्वारम्भपरित्यागीः**— जो इहलोक या परलोक के भोगों की प्राप्ति के लिये कोई कर्म नहीं करता। कोई भी आरम्भ तब होता है जब



उसके फल में राग हो। उसका राग केवल भगवान् में है। अतः भगवान् की प्रसन्नता के लिये शारीरिक या मानसिक चेष्टाएँ करता है।

**यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।**

**शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥१७॥**

भावार्थ—जो न हर्ष करता है, न द्वेष करता है, न सोच-विचार करता है और न इच्छा करता है तथा जो शुभ-अशुभ दोनों को सर्वथा त्याग चुका है वह भक्तिमान् पुरुष ही मुझे प्रिय है।

व्याख्या— अनुकूल या प्रतिकूल क्रिया, परिस्थिति या चिन्तन से जो भी सुख या दुःख होगा वह शरीर को ही होगा। उसका शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये उसे हर्ष या शोक भी नहीं होता। हर्ष-शोक दृश्य या संसार के ही अन्तर्गत हैं और वह दृश्य से सर्वथा असंग है, इसलिये उसे हर्ष, द्वेष या शोक नहीं होता।

लोग जो परोपकार करते हैं उससे भी आत्मसन्तोष या अपने ही को सुख होता है। प्रधानतया यही लक्ष्य रहने के कारण वह भी एक प्रकार का स्वार्थ ही है। इसीसे संन्यासी या बोधवान् परोपकारादि सामाजिक प्रवृत्तियों से दूर रहते हैं। अतः वे शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियों को त्याग देते हैं। केवल इनके साक्षीमात्र रहते हैं। शुभ प्रवृत्ति भी उन्हीं की हो सकती है जिन्हें भजन या इष्टाकार-वृत्ति से अवकाश मिले। जिनका भजन में अनुराग होता है उन्हें दूसरे कार्यों के लिये समय ही कहाँ मिलता है। अतः सम्पूर्ण बाह्य व्यापारों का त्याग ही शुभा-शुभत्याग है। अथवा उसकी सभी वस्तु और क्रियाओं में भगवद्बुद्धि है, इसलिये उसकी दृष्टि में शुभ और अशुभ है ही नहीं। परन्तु ऐसी दृष्टि तभी होती है जब अपने इष्ट में अत्यन्त अनुराग हो। ऐसा अनुराग जैसा कि अज्ञानियों का अपने शरीर में होता है। जब ऐसा अनुराग होता है तब धर्म-कर्म, कीर्ति और नीति आदि की कोई सत्ता ही नहीं भासती। सर्वत्र अपने इष्ट की ही झाँकी होती है।

**समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।**

**शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥१८॥**



भावार्थ—जो पुरुष शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण तथा सुख-दुःख में समान है तथा सब प्रकार की आसक्तियों से रहित है।

व्याख्या— भक्त और ज्ञानी दोनों ही की देहदृष्टि नहीं रहती, इसलिये वे समबुद्धि होते हैं। यह बात गीता में जगह-जगह कही गयी है। अध्याय २ श्लोक १४ में कहा है—मात्रा-स्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः' इत्यादि। अध्याय २ श्लोक १५ में आया है—'समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते' इत्यादि। अध्याय ६ में श्लोक ७ से ९ तक भी ब्रह्म को सच बतलाते हुए समदृष्टि की ही महिमा कही है। अध्याय ११ श्लोक ५५ में भी 'सङ्गवर्जितः निर्वैरः सर्वभूतैषु' कहा है। और यही बात यहाँ कही है। आत्मा शब्दादि पाँच विषय तथा सुख और दुःख इन सातों से असंग है, इसलिये वह सम है। अतः जो आत्म-निष्ठ या भगवद्भक्त होते हैं वे भी सर्वत्र सम होते हैं।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥१९॥

भावार्थ— जो निन्दा-स्तुति में समान है, मौनी है, जिस किसी भी वस्तु के प्राप्त होने पर सन्तुष्ट रहता है, अनियत स्थानवाला है तथा स्थिरबुद्धि है वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।

व्याख्या— उसे निरन्तर ध्यान या भगवच्चिन्तन से समय ही नहीं मिलता, इसलिये निन्दा-स्तुति सुनने पर वह प्रत्युत्तर देने या समर्थन करने में प्रवृत्त ही नहीं होता। इस प्रकार 'तुल्यनिन्दास्तुतिः' कहकर आगे हेतु देते हैं— 'मौनी' अर्थात् ध्यानी, क्योंकि निन्दा-स्तुति में समान तो ध्याननिष्ठ ही रह सकता है। 'सन्तुष्टो येन केनचित्'—उसे जो कुछ प्राप्त हो जाता है उसी में सन्तुष्ट रहता है। 'अनिकेतः' जिसका कोई नियत स्थान न हो, जो जहाँ-तहाँ पड़ा रहे। वह कुटिया आदि बनाकर भोग्य सामग्री एकत्रित नहीं करता। कुटिया बनाकर एक स्थान में रहने से परिचय बढ़ता है और उससे राग-द्वेष को अवकाश मिल जाता है तथा अनेक प्रकार के उपद्रव उपस्थित होने लगते हैं। अथवा जिसके हृदय में ममता और कामना को स्थान न हो वह भी अनिकेत



है। यहाँ श्री भगवान् का तात्पर्य यही है कि मेरे भक्त के हृदय में किसी प्रकार की ममता या कामना के लिये स्थान नहीं होता। वह तो एक अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है। ऐसा एकनिष्ठ भक्त ही मुझे प्रिय है।

**संगति—** इस प्रकार भक्तों के लक्षण बतलाकर भगवान् इस प्रसंग का उपसंहार करते हैं—

**ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।**

**श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥२०॥**

**भावार्थ—** जो भक्त श्रद्धापूर्वक मेरे परायण हुए इस उपर्युक्त धर्ममय अमृत का सेवन करते हैं वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

**व्याख्या—** यहाँ भक्तों के लिये 'श्रद्धधानाः' और 'मत्परमाः' दो विशेषण दिये गये हैं अर्थात् वे श्रद्धालु भी हों और मेरे परायण भी हों। अनन्यभाव से मुझे आत्मसमर्पण करने वाले और लक्ष्य पर बाण चलाने वाले के समान मुझमें एकाग्रचित्त रखने वाले हों। तात्पर्य यह कि इस धर्ममय अमृतरूप उपदेश को ग्रहण करने के लिये केवल श्रद्धा ही पर्याप्त नहीं है अनन्य भाव से मेरे परायण होना भी आवश्यक है।

अतः जो इन सम्पूर्ण लक्षणों से सम्पन्न है तथा श्रद्धापूर्वक भगवद्भजन में लगे हुए हैं वे ही भक्त भगवान् को अतिशय प्रिय हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां  
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे  
भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः॥१२॥



ॐ

श्री परमात्मने नमः  
श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

## अथ त्रयोदशोऽध्यायः

**संगति—** बारहवें अध्याय में भगवान् ने भक्तिनिष्ठा का प्रतिपादन किया। अब इस अध्याय में सांख्यनिष्ठा कहेंगे। जिसे तीव्र जिज्ञासा होने पर भगवान्, शास्त्र, गुरु, धन, स्त्री, पुत्र आदि किसी में राग नहीं रहता, सन्देह की प्रधानता होती है और बुद्धिवाद में आस्था होती है, उस साधक को ज्ञानमार्ग में प्रवेश कराने के लिये भगवान् इस अध्याय के आरम्भ में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग समझाते हैं।

प्राचीन ग्रन्थों में मुख्यतया सांख्ययोग (ज्ञानयोग) और कर्मयोग ये दो ही योग मिलते हैं। भगवान् शंकराचार्य ने गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र—ये तीन प्रस्थान बतलाये हैं। सच पूछा जाय तो कर्म, उपासना और ज्ञान ये ही तीन प्रस्थान हैं। किन्तु गीता में तो दो निष्ठाओं का ही उल्लेख है। जैसे अध्याय ३ श्लोक ३ में कहा है—‘लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ’ तथा अध्याय ५ श्लोक ५ में कहा है—‘यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।’ गीता ने भक्तियोग को भी कर्मयोग के ही अन्तर्गत माना है। सांख्य सिद्धान्त के अनुसार देह और देही में भेद है। भक्त भी लोक में तो यह भेद मानते हैं, परन्तु भगवान् में ऐसा भेद स्वीकार नहीं करते। उनका देह भी चिन्मय मानते हैं, अतः उनमें देह-देही का सात्त्विक भेद नहीं है।

इस अध्याय में भगवान् या ईश्वर की चर्चा नहीं है, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ही विभाग किया है। किन्तु जब क्षेत्र है और वह बनने-बिगाड़ने वाला है तो उसका बनाने वाला भी कोई होना ही चाहिये। वही ईश्वर है। लोक में यह देखा जाता है कि वस्तु को बनाने वाला एक होता है और भोगने वाले अनेक होते हैं। इसी प्रकार जीव अनेक हैं और ईश्वर एक है।



अब अध्याय २ के १६ वें श्लोक 'नासतो विद्यते भावो ना-  
भावो विद्यते सतः, इत्यादि के आधार पर भगवान् कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥१॥

भावार्थ— श्रीभगवान् बोले—यह शरीर क्षेत्र कहा जाता है  
और जो इसे जानता है उसे उस तत्त्व को जानने वाले क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

व्याख्या— समष्टि और व्यष्टि भेद से शरीर भी दो प्रकार के  
हैं। समष्टि ईश्वर का शरीर है और व्यष्टि जीव का। इस दृष्टि से विराट्  
हिरण्यगर्भ और अव्याकृत अथवा पृथ्वी, जल, तेज, वायु और  
आकाश—ईश्वर के शरीर हैं तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये जीव  
के शरीर हैं। श्रीकृष्ण ईश्वर हैं और अर्जुन जीव है। अतः अपने और  
अर्जुनादि के समस्त शरीरों की दृष्टि से कह रहे हैं कि यह शरीर अर्थात्  
दृश्यमात्र क्षेत्र है। 'इदम्' यह समस्त शरीरों को लक्षित करता है। इस  
श्लोक में जड़ और चेतन का विवेक किया गया है। इससे निश्चय होता  
है कि मन, बुद्धि, शरीर एवं सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च हमसे पृथक् है जो  
हमसे पृथक् है वह दृश्य और परप्रकाश्य होने के कारण जड़ है। जब  
बुद्धि भी जड़ होने के कारण हमसे भिन्न है तो हम कर्ता-भोक्ता नहीं  
रहे क्योंकि क्रिया और भोग बुद्धि आदि के सहयोग से ही होते हैं।  
इस प्रकार कर्तृत्व-भोक्तृत्व का निषेध हो जाने पर इनका साक्षी क्षेत्रज्ञ  
शुद्ध चेतन निश्चित होता है।

यह नियम है कि खेतवाला खेत से भिन्न होता है और उसी  
को क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। अतः 'इदम्' शब्द से क्षेत्र का और 'अहम्'  
शब्द से क्षेत्रज्ञ का उल्लेख किया जाता है। शरीर मन, बुद्धि आदि  
सम्पूर्ण दृश्य हमसे भिन्न है, क्योंकि जो वस्तु हमारी कही जायगी वह  
हमसे होगी। अतः हम क्षेत्रज्ञ हैं और ये सब क्षेत्र हैं तथा इन सबका  
स्वामी या रचयिता ईश्वर है। इस प्रकार क्षेत्र जीव और ईश्वर दोनों  
से भिन्न है, जिस प्रकार घट से कुम्हार और घट का प्रयोग करने वाला



दोनों भिन्न होते हैं। जिस प्रकार घट को बनाने वाला कुम्हार है उसी प्रकार क्षेत्र को बनाने वाला ईश्वर है। परन्तु वह देखा नहीं जाता, क्षेत्र प्रयत्न करने पर उसका साक्षात्कार भी हो सकता है। हाँ, विशेष है भक्ति।

अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार सूक्ष्म शरीर के गमनागमन होते रहते हैं। जब स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है तब उसका द्रष्टा सूक्ष्म शरीर रहता है। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर का द्रष्टा कारण शरीर है और कारण शरीर का द्रष्टा साक्षी है। वास्तव में तो साक्षी ही द्रष्टा है। वही सूक्ष्म शरीर की उपाधि स्वीकार करके स्थूल शरीर का और कारण शरीर की उपाधि स्वीकार करके सूक्ष्म शरीर का द्रष्टा कहा जाता है। इस प्रकार साक्षी या जीव-चेतन ही द्रष्टा या क्षेत्रज्ञ है और तीनों शरीर दृश्य या क्षेत्र हैं। सूक्ष्म शरीर की निवृत्ति समाधि में होती है, क्योंकि उस समय कारण शरीर में स्थिति होती है और कारण-शरीर की निवृत्ति विवेक होने पर होती है। कारण शरीर ही अज्ञान या जड़-चेतन की ग्रन्थि है। इसी को अविवेक कहते हैं, अतः अविवेक की निवृत्ति विवेक से ही होती है। समाधि में चित्तवृत्तियों का निरोध ही होता है, निषेध नहीं होता इसलिये वहाँ कारण-शरीर की निवृत्ति नहीं होती। उसकी निवृत्ति पुरुषख्याति या विवेक होने पर ही होती है।

**संगति—** इस श्लोक में जड़-चेतन का पृथक्त्व बतलाकर पञ्चकोष को क्षेत्र और उसके द्रष्टा को क्षेत्रज्ञ कहा गया। यह व्यष्टि-साक्षी का प्रतिपादन या त्वंपद का शोधन हुआ। अब अगले श्लोक में पञ्चभूतों को क्षेत्र और उनके द्रष्टा को क्षेत्रज्ञ बतलाकर समष्टि-साक्षी का प्रतिपादन या तत्पद का शोधन करेंगे। यही ईश्वर का प्रतिपादन है। जब तक ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों के स्वरूप का ज्ञान न हो तब तक मोक्ष नहीं हो सकता। इसी से भगवान् कहते हैं—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।  
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥२॥



भावार्थ— हे भारत! तू समस्त क्षेत्रों में मुझे ही क्षेत्रज्ञ जान यह जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान है, मेरे मत में यही [वास्तविक] ज्ञान है।

व्याख्या— 'भा' का अर्थ है प्रकाश या ज्ञान, उसमें जो रत है वह भारत। अर्जुन तीव्र जिज्ञासु है, इसलिये उसे 'भारत' कहकर सम्बोधन किया गया है।

गीता में 'माम्' शब्द की कहीं व्याख्या नहीं की है कि वह सगुणपरक है या निर्गुणपरक। केवल यहीं इतना विवेचन है कि मुझे तू क्षेत्रज्ञ जान। जीव एक शरीर को जानने वाला है और ईश्वर समस्त शरीरों को जानता है। जो जीव और सम्पूर्ण जड़ वर्ग को जानता है वही ईश्वर है। अतः भगवान् अपने को सम्पूर्ण क्षेत्रों में उनका ज्ञाता बतलाकर अपनी ईश्वरता का निर्देश कर रहे हैं।

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में भगवान् ने अपने को समष्टि साक्षी बतलाकर जड़वर्ग से अपना विवेक बतलाया है। फिर उत्तरार्द्ध में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान को ही ज्ञान बतलाकर इसके तात्त्विक अभेद का प्रतिपादन किया है, क्योंकि जो वस्तु अपने से (साक्षी से) भिन्न है वह स्वतः सिद्ध न होने के कारण अध्यस्त है और अध्यस्त वस्तु की सत्ता अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती। वह अधिष्ठान में ही कल्पित होती है। इससे निश्चय हुआ कि क्षेत्र की सत्ता नहीं है। अतः ऐसा अनुभव होना कि क्षेत्र का अत्यन्ताभाव है, यही ज्ञान है। इसी को भगवान् ने अपना मत कहा है। 'अपि' शब्द का प्रयोग करके भी भगवान् ने यह सूचित किया है कि पूर्वार्द्ध में उन्होंने विवेक का प्रतिपादन किया है और उत्तरार्द्ध में सिद्धान्त बतलाया है।

प्रश्न—हम यह कैसे समझें कि पहले श्लोक में भगवान् ने जीव के स्वरूप का ज्ञान कराया है और यहाँ अपना स्वरूप बतला रहे हैं।

उत्तर— प्रथम श्लोक में 'इदं शरीरम्' कहकर मानो वे अंगुलि-निर्देश से बतला रहे हैं कि यह व्यष्टि शरीर ही क्षेत्र है। यहाँ



व्यष्टि शरीर से स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीर समझने चाहिये। इनके साक्षी को ही क्षेत्रज्ञ कहा है। अतः व्यष्टि शरीरों का साक्षी होने के कारण वह जीव ही होना चाहिये। तथा यहाँ अपने को सम्पूर्ण क्षेत्रों का ज्ञाता बतलाया है। अतः समष्टि साक्षी होने के कारण यह अपने ईश्वर-स्वरूप का प्रतिपादन है।

इस प्रकार पहले श्लोक में व्यष्टि शरीर के ज्ञाता का वर्णन किया और यहाँ समष्टि शरीर के ज्ञाता का और इसी को ज्ञान बतलाया। जीव के तीनों शरीर क्षेत्र हैं और ईश्वर के तीनों शरीर भी क्षेत्र हैं। अतः इन क्षेत्रों की एकता है। इसी प्रकार व्यष्टि-साक्षी और समष्टि-साक्षी की भी एकता है। इन व्यष्टि-साक्षी और समष्टि-साक्षी दोनों का जिसको ज्ञान है वही शुद्ध चेतन है। इस प्रकार उसे सर्वातीत रूप में जानना ही व्यतिरेक ज्ञान है। तथा सब कुछ वही है, वही क्षेत्र है और वही क्षेत्रज्ञ है। इस प्रकार उसे सर्वरूप में जानना ही अन्वय-ज्ञान है, जैसा कि नवें अध्याय के १९ वें श्लोक में 'तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाभ्युत्सृजामि च' तथा 'सदसच्चाहमर्जुन' कहकर वर्णन किया है।

इस श्लोक में जो भगवान् ने अपने को समस्त क्षेत्रों का साक्षी कहकर बतलाया है, यह कपिल सांख्य का सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि यहाँ अनेक साक्षी नहीं कहे गये हैं। द्रष्टा भी एक है और दृश्य भी एक है, इसी प्रकार यहाँ भगवान् की ईश्वरता का भी निरूपण नहीं है, क्योंकि यह साक्षी-साक्ष्य के विवेकपूर्ण व्यतिरेक-ज्ञान का प्रकरण है।

**संगति**—इस प्रकार मानो भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि जो मेरा स्वरूप है वही तेरा स्वरूप है। इसलिये यदि तू अपने को जान लेगा तो मुझे भी जान जायगा। अतः क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विवेक कराकर अब क्षेत्र का विशेष-रूप से वर्णन करते हैं—

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।

स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥

**भावार्थ**—वह क्षेत्र जो कुछ है, जैसा है, जैसे विकारों वाला है और जहाँ से जो हुआ है तथा वह (क्षेत्रज्ञ) जैसे प्रभाव वाला है वह सब मुझसे संक्षेप में सुन।



संगति— अब अगले श्लोक में भगवान् कहते हैं कि यह मैं कोई नई बात नहीं कह रहा हूँ। ऋषि-मुनियों और शास्त्रों ने पहले ही इसी प्रकार निश्चय करके प्रतिपादन किया है—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।  
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥४॥

भावार्थ— इस विषय का ऋषियों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है तथा अनेकों वेद-मन्त्रों ने और निश्चित अर्थवाले युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्र के पदों ने भी तरह-तरह से प्रतिपादन किया है।

व्याख्या— यहाँ 'हेतुपद्भिर्विनिश्चितैः' इन पदों का प्रयोग यह सूचित करने के लिये किया है कि आगे जिस तत्त्व का निरूपण किया जायगा वह पहले तर्क द्वारा निश्चित कर लिया गया है और सर्वसम्मत है। इससे यह भी सूचित होता है कि भगवान् जो कुछ कह रहे हैं वह परम्परा-प्राप्त और युक्तियुक्त है। कालक्रम से वह ज्ञान लुप्त हो गया था, उसी को प्रकट कर रहे हैं।

संगति— भगवान् कह चुके हैं कि क्षेत्रज्ञ तो एक और अविकारी है किन्तु क्षेत्र का बहुत विस्तार है। वह अगले दो श्लोकों से बतलाते हैं।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।  
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥५॥  
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।  
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥६॥

भावार्थ— पञ्च महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त (प्रकृति), दस इन्द्रियाँ, एक मन, इन्द्रियों के पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (शरीर), चेतना (चिदाभास) और धृति—से क्षेत्र हैं और विकारयुक्त हैं। इनका संक्षेप से वर्णन किया गया।

व्याख्या— प्रश्न— विकार और धर्म में क्या अन्तर है?



उत्तर—विकार परिवर्तनशील होते हैं अर्थात् आगन्तुक हैं और धर्म धर्मी से अभिन्न होते हैं।

प्रश्न—राग-द्वेष बुद्धि के विकार हैं या धर्म?

उत्तर—भक्ति पक्ष में धर्म है और ज्ञान पक्ष में विकार। इच्छा के साथ ही द्वेष रहता है, क्योंकि इच्छापूर्ति में विघ्न डालने वाले के प्रति ही द्वेष होता है। फिर उसी से दुःख होता है और इच्छा की पूर्ति से ही सुख होता है। इसीलिये इच्छा-द्वेष के साथ ही सुख-दुःख का उल्लेख हुआ है।

प्रश्न—बोधवान् में इच्छा और द्वेष रहते हैं या नहीं?

उत्तर—इच्छा और द्वेष क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। तथा शरीर भी क्षेत्र ही है। तुम बतलाओ बोधवान् के शरीर रहता है या नहीं। यदि कहो कि शरीर रहता है तो जिस दृष्टि से शरीर रहता है उस दृष्टि से इच्छा-द्वेषादि भी रहते हैं। यदि शरीर नहीं रहता तो इच्छा-द्वेषादि भी नहीं रहते।

संगति— अब आगे ज्ञान के साधन बतलाते हैं—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।

आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिगग्रहः॥७॥

भावार्थ—अमानित्व—अपनी पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा से रहित होना। अथवा श्रेष्ठ आसन मिलने पर भी अभिमान न होना। भगवान् अमानी हैं, विष्णुसहस्रनाम में आया है—‘अमानी मानदो मान्यः’ इत्यादि। अतः उनसे तद्रूपता होने के लिये अमानी होना आवश्यक है, क्योंकि ऐसा नियम है कि ‘देवो भूत्वा देवान् यजेत’ अर्थात् अपने में देवत्व की भावना करके देवपूजन करे। इसीसे भगवत्प्राप्ति होगी, अथवा भगवान् का निरन्तर ध्यान करने से भगवान् के गुण आ जायेंगे।

अदम्भित्व दूसरे के प्रति अपने जप-ध्यानादि को किसी प्रकार प्रकट न होने देना। कहा भी है—‘परेषामग्रे जपध्यानादिप्रकटकरणं दम्भः’ अर्थात् भजनानन्दी कहलाने के लिये जप-ध्यानादि करना अथवा किसी प्रकार की दिखावट करना दम्भ है। किन्तु यदि कोई सच्चे भाव से सबके सामने भी भजन करता है तो वह दम्भ नहीं है। और



जो एकान्त में भी प्रतिष्ठा आदि के उद्देश्य से भजन करता है वह दम्भी है। कोई कामना या लोकेषणा होने पर ही दम्भ होता है।

**अहिंसा**—योग दर्शन की टीका में चौरासी प्रकार की अहिंसा कही गयी हैं, किन्तु उनका तात्पर्य इतना ही है कि मन, वाणी और कर्म से किसी प्राणी को दुःख न दे। अहिंसा की पूर्णता तभी समझनी चाहिये कि जब उसके पास आने पर स्वभावतः वैर रखने वाले प्राणियों की भी पारस्परिक शत्रुता छूट जाय। यह बात योगदर्शन के इस सूत्र में कही गयी है— 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।' ऐसी वाणी कभी न कहे जिससे किसी को दुःख हो और न किसी का अनिष्ट-चिन्तन ही करे। दूसरे की निन्दा करना अथवा आर्थिक लाभ के लिये महंगाई की इच्छा करना भी हिंसा ही है। संसार को नाटकवत् देखने से भी अहिंसा की पुष्टि होती है।

**क्षान्ति**—क्षमा या सहनशीलता, जैसा कि अध्याय २ श्लोक १४ में कहा है— 'मात्रापस्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।' इत्यादि। इसकी पूर्णता कोई बिरले ही कर पाते हैं। सहनशील ही तितिक्षु होता है। जो समय को व्यर्थ नष्ट नहीं करता, हर समय भजन-साधन में तत्पर रहता है वही तितिक्षु हो सकता है।

**आर्जव**—सरलता या निष्कपटता। जैसा कि कहा है—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।  
मनस्यन्यद्वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद्दुरात्मनाम्॥

**भावार्थ**—महात्माओं के मन, वचन और कर्म में एक ही बात रहती है और दुरात्माओं के मन, वचन और कर्म में अन्तर रहता है।

**आचार्योपासन**—गुरुदेव की सेवा। गुरुकृपा के बिना साधन में सफलता नहीं मिलती। अतः भगवद्भाव से गुरुसेवा में संलग्न रहे। उपनिषद् में कहा है—

यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।  
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥



अर्थात् जिसकी भगवान् में अत्यन्त भक्ति है और जैसी भगवान् में है वैसी ही गुरुदेव में है उस महात्मा को ही यहाँ कहे हुए तत्त्व का साक्षात्कार हो सकता है। जिज्ञासु के परम आश्रय तो गुरुदेव ही हैं। इसका विशेष विवरण ज्ञानेश्वरी टीका में देखना चाहिये।

**शौच**—पवित्रता। यह आन्तर और बाह्य भेद से दो प्रकार की है। मन में राग-द्वेषादि मल न रहने पर आन्तर पवित्रता होती है तथा जल-मृत्तिकादि के प्रयोग से बाह्य पवित्रता प्राप्त होती है।

**स्थैर्य**—गुरुदेव के दिये हुए साधन में स्थिर रहना। अथवा गुरु, इष्ट, मन्त्र और शास्त्रवाक्यों में अविचल रहना।

**आत्मविनिग्रह**—मन और इन्द्रियों को संयत रखना। भक्त का इन्द्रियनिग्रह अपने इष्टदेव के चिन्तन-मनन में लगे रहने से होता है तथा विचारवान् का संसार को स्वप्नवत् देखने से।

यहाँ से ज्ञान के सत्ताईस साधन बतलाने आरम्भ किये हैं। इनमें अमानित्व और अदम्भित्व ये सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। आचार्योपासन, शौच, स्थैर्य और आत्मविनिग्रह—इन चार साधनों में से स्थैर्य आत्मविनिग्रह होने पर ही होता है तथा निग्रहवान् ही आचार्योपासन और शौच का आचरण कर सकता है। इन चारों का परस्पर बहुत सम्बन्ध है।

**प्रश्न**—ऐसा कौन साधन है जिससे ये अमानित्वादि गुण आ जायें।

**उत्तर**—साधन यही है कि अनन्यभाव से भगवान् का भजन करे—

**स्मर्तव्यः सततं विष्णुः विस्मर्तव्यो न जातुचित्।  
सर्वे विधिनिषेधाः स्थुरेतयोरेव किंकराः॥**

(श्रीमद्भागवत्)

अर्थात् निरन्तर भगवान् विष्णु का स्मरण करे, उन्हें कभी न भूले। जितने विधि-निषेध हैं इन दो साधनों के ही अनुगत हैं। सृष्टि में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं—पामर, विषयी, जिज्ञासु और सिद्ध।



ये अमानित्वादि गुण जिज्ञासु के लिये हैं। आजकल तो ठीक जिज्ञासु मिलना कठिन ही है। विषयी भी कोई-कोई देखने में आते हैं। अधिकता पामरों की ही है। जो शास्त्रानुसार भोगों का सेवन करता है वह विषयी कहा जाता है। शास्त्र से ब्राह्मण के लिये एक सन्तान, वंशवृद्धि के लिये क्षत्रिय के दो सन्तान, वैश्य के व्यापार के लिये तीन सन्तान और शूद्र के सेवा-कार्य के लिये अनेक सन्तान होनी चाहिये। जो शास्त्रविहित-भोग से अधिक भोग भोगता है वह पामर है और जिसे शास्त्रोक्त भोग से भी वैराग्य है वह जिज्ञासु है। सिद्ध के विषय में हम कुछ नहीं कहते कि वह क्या करता है।

**इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।**

**जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥**

**भावार्थ—** इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति का त्याग, अहंकार का अभाव तथा जन्म, मृत्यु, जरा और रोग में दुःख एवं दोष देखना।

**व्याख्या—** इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य होना चाहिये। किन्तु भक्त के लिये भगवान् का प्रसाद विषय नहीं माना जाता। संन्यासी को भी औषधवत् भोजन ग्रहण करना चाहिये। सब खाद्य-पदार्थों को मिलाकर संन्यासी के लिये आठ ग्रास, वानप्रस्थ के लिये सोलह ग्रास, गृहस्थ के लिये बत्तीस ग्रास और ब्रह्मचारी के लिये यथेष्ट भोजन का नियम है। यदि ब्रह्मचारी कम खायेगा तो गुरुसेवा कैसे करेगा? कम खाना इसलिये बतलाया है कि अधिक खाने से बुद्धि का बल क्षीण होता है और देह की आसक्ति बढ़ती है, जैसा कि पहलवानों में देखा जाता है।

इसके पश्चात् भगवान् अहंकार की बात कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों के विषय में वैराग्य तो हो परन्तु इसका अभिमान न हो। धनी होकर नम्र होना और वैराग्यवान् होकर अहंकारशून्य होना बहुत कठिन है। यदि किसी में ये दोनों बातें हों तो उसे भगवान् का प्यारा समझना चाहिये। अहंकार बहुत दुःखदायी है, क्योंकि यह देहाभिमान से होता है और यही जन्म-मरण का भी



कारण है। संसार में अपने शरीर से अधिक दुःखदायी कोई नहीं है। इसी में जन्म-मरण, जरा और व्याधि होते हैं। इन दुःखों के दोषों पर दृष्टि रखनी चाहिये। सारे दुःखों का मूल जन्म है। इसकी निवृत्ति भगवान् के भजन से होती है। अतः निरन्तर भजन करना चाहिये।

**असक्तिरनभिष्वङ्गः**

**पुत्रदारगृहादिषु।**

**नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥**

**भावार्थ—** पुत्र, स्त्री और गृह आदि में आसक्ति एवं ममता

न होना तथा इष्ट या अनिष्ट प्राप्त होने पर सर्वदा समचित्त रहना।

**व्याख्या—**स्त्री-पुत्रादि के चिन्तन का नाम अभिष्वंग है, इसका

न होना अनभिष्वंग कहा जाता है। आसक्ति सबसे अधिक पुत्र में होती है, उससे कम स्त्री में और उससे कम गृहादि में होती है, क्योंकि अधिकतर पाप पुत्र के मोहवश ही किया जाता है। यदि यथार्थ दृष्टि से देखा जाय तो आजकल स्त्री में तो प्रेम है ही नहीं। जो प्रेम प्रतीत होता है वह केवल स्वार्थ है, यदि सच्चा प्रेम हो तो स्त्री के मरते ही दूसरे विवाह की उत्सुकता नहीं होनी चाहिये थी।

यहाँ आसक्ति और अभिष्वंग दो की चर्चा है। इनमें आसक्ति होने पर भी गृहत्याग किया जा सकता है, क्योंकि घर छूटने पर आसक्ति तो छूट सकती है, परन्तु स्त्री-पुत्रादि का चिन्तन छूटना कठिन है। तब भी यह चिन्तन चलता रहता है कि मैं इतनी धन-सम्पत्ति छोड़कर आया हूँ, ऐसे प्रतिष्ठित परिवार का हूँ, ऐसा विद्वान् हूँ इत्यादि। वही अभिष्वंग है। इसे भी त्यागना चाहिये।

**सदा समचित्त होना—**अत्यन्त कष्ट पड़ने या महान् सुख की प्राप्ति होने पर, प्रबल शत्रु का आक्रमण होने या दिग्विजयी होने पर, पुष्पादि द्वारा पूजित होने या जूते लगने पर जिसका चित्त विक्षेप-शून्य रहे, राग-द्वेष की वृत्ति न हो तथा प्रसन्न या क्रुद्ध न हो वह समचित्त है। सहजावस्था में तो सभी समचित्त रहते हैं, किन्तु अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आने पर विषमता आ जाती है। अतः सहनशीलता की बहुत आवश्यकता है।



संगति— ज्ञान के साधन बतलाये जा रहे हैं, परन्तु भक्ति के बिना इन साधनों की रक्षा नहीं होती। अतः भगवान् कहते हैं—

**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।**

**विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥**

भावार्थ— मुझमें अनन्यभाव से अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त देश का सेवन, और जनसमुदाय में रुचि न होना।

व्याख्या— जिस प्रकार सती अपने पति के सिवा कभी किसी पुरुष का चिन्तन नहीं करती उसी प्रकार अपने इष्ट को छोड़कर और कहीं चित्त न जाय—इसे अव्यभिचारिणी भक्ति कहते हैं। उस भक्ति का साधन है एकान्त सेवन। संसारी पुरुषों का संग न करे। अव्यभिचारिणी भक्ति होने पर यह गुण स्वयं आ जायगा। किन्तु यह बात जिज्ञासु में ही पायी जाती है। जिसे मनुष्यों से मिलने-जुलने की रुचि नहीं है वही एकान्तसेवी हो सकता है। अथवा जिसमें अव्यभिचारिणी भक्ति होगी उसमें ये दोनों गुण स्वयं आ जायेंगे। तथा एकान्त में रुचि और जनसमुदाय में अरुचि होने से जिज्ञासा तीव्र होगी। तब विचार में प्रवृत्ति होगी और फिर क्या होगा यह अगले श्लोक में बताते हैं।

**अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।**

**एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥**

भावार्थ— सर्वदा अध्यात्मज्ञान में तत्पर रहना और तत्त्वज्ञान के प्रयोजन (मोक्ष) पर दृष्टि रखना—यही सब ज्ञान (ज्ञान का साधन) कहा जाता है। जो इससे विपरीत है वह अज्ञान है।

व्याख्या— अध्यात्मज्ञान में नित्य स्थित रहना अर्थात् निरन्तर आत्मा-अनात्मा का विवेक तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना। किसलिये? तत्त्वज्ञानरूप अर्थ के दर्शन के लिये अर्थात् तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिये। अथवा तत्त्वज्ञान का अर्थ— प्रयोजन जो मोक्ष उस पर दृष्टि रखना। ये जो सत्ताईस लक्षण बताये गये हैं वे ज्ञान के साधन होने के कारण ज्ञान कहे गये हैं। इनके विपरीत सब अज्ञान है। यहाँ जो ज्ञान के साधन हैं उन्हीं को ज्ञान कहा गया है, जैसे भगवान्



के मन्दिर झाड़ू लगाने, फूल चुनने और पाठ-पूजनादि करने को भक्ति कहा जाता है। यद्यपि ये सब हैं भक्ति के साधन ही। ये साधन ज्ञानियों के गुण हैं। वास्तव में तो जो ज्ञेय है वही ज्ञानस्वरूप है।

**संगति—** ज्ञान का स्वरूप बतलाकर अब अगले छः श्लोकों में ज्ञेय का वर्णन करते हैं। इसमें अगला श्लोक बहुत महत्वपूर्ण है। गीता का तत्व समझने के लिये इसे समझना बहुत आवश्यक है—

**ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।**

**अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥**

**भावार्थ—** अब जो ज्ञेय है वह बतलाऊँगा, जिसे जानकर अमृत (मोक्ष या अमृतरूप ब्रह्म) प्राप्त हो जाता है। वह अनादि परब्रह्म है और वह न सत् कहा जाता है न असत्। [वह तो सत्-असत् से विलक्षण है।]

**व्याख्या—** सत्-असत्, ज्ञान-अज्ञान या कार्य-कारण एक ही बात है। तत्त्ववेत्ता की चार प्रकार की दृष्टि होती है। उसे ऐसा अनुभव होता है कि—

१. सब मुझसे भिन्न हैं, मैं सबका द्रष्टा हूँ। यह दृष्टि अध्याय १३ के श्लोक २ में कही गयी है—‘क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि’ इत्यादि। यह असंग-भावना है।

२. केवल मैं ही हूँ, और कुछ हुआ ही नहीं। यह अध्याय २ श्लोक १६ में आयी है—‘नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।’ इसमें प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव है और निषेधाकार-वृत्ति रहती है।

३. सत्-असत् सब मैं ही हूँ। यह अध्याय ९ श्लोक १९ में आयी है। यथा—‘सदसच्चाहमर्जुन’ यह अन्वयदृष्टि है।

४. मैं सत्-असत् से परे हूँ। यहाँ न ‘सत्तन्नासदुच्यते’ इस वाक्य से यही बात कही गयी है। यही अनुभव अर्जुन ने अध्याय ११ के ३७ वें श्लोक द्वारा व्यक्त किया था; यथा—‘त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।’ गीता में चार प्रकार की दृष्टियाँ बतलायी हैं। उत्थान काल में ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि सब मुझसे भिन्न है और सब मैं ही



हूँ या सब मेरा है। और अन्तर्दृष्टि होने पर यह अभ्यास करना चाहिये कि केवल मैं ही हूँ।

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये एक के ही तीन नाम हैं। उसे वेदान्ती ब्रह्म, योगी परमात्मा और भक्त भगवान् कहते हैं। श्रीमद्भागवत में कहा है—‘ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते।’ ईश्वर कैसा है—यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि ईश्वर के भाव और गुण अनन्त हैं। यह नियम है कि अनन्त का ज्ञान मन-बुद्धि आदि से नहीं होता। इनसे तो सान्त या सीमित विषयों का ही ज्ञान होता है। ईश्वर तर्क का विषय भी नहीं है। वह श्रद्धा का ही विषय है। वह सच्चिदानन्दस्वरूप है अथवा वंशीधारी है—ऐसी श्रद्धा ही करनी होती है। तर्क तो इतना ही बताता है कि यह संसार उत्पत्ति-विनाशशील है, अतः इसका कोई कर्ता होना चाहिये। हम अल्पज्ञ, अल्पशक्ति और परिच्छिन्न हैं, इसलिये कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और विभु भी होना चाहिये। वही ईश्वर है तथा सभी मतों में ईश्वर के विषय में मुख्य दृष्टि यही है। अतः अपनी दृष्टि से वे सभी ठीक हैं, क्योंकि वे सभी उपासक हैं।

परन्तु निर्विशेष ब्रह्म की उपासना नहीं होती। वह तो विचार के द्वारा अविचार की निवृत्ति होने पर ही अनुभव में आता है। यह कहना भी ठीक नहीं, वास्तव में वह अनुभवस्वरूप ही है और ऐसा अनुभव होना ही उसका अनुभव है। यहाँ निर्विशेष का ही प्रसङ्ग है। वही परब्रह्म है। वह सत्-असत् से विलक्षण है। सत् भाव कार्य या जाग्रत को कहते हैं तथा असत् अभाव, कारण या सुषुप्ति को। वह दोनों से परे है इसलिये उसे न सत् कह सकते हैं न असत्। वास्तव में सत् और असत् कभी हुए ही नहीं, वे केवल भासते हैं। वे जिसमें भासते हैं वह इन दोनों से विलक्षण है और वही परब्रह्म है। यह ज्ञान उसी को होता है जिसे संसार से वैराग्य है।

सब भगवान् हैं—यह कहने का तात्पर्य भी यही है कि सब नहीं, भगवान् ही है। सत्-असत् कुछ नहीं, मैं ही हूँ। जैसे स्वप्न वास्तव में कुछ नहीं होता। स्वप्न और स्वप्न से विलक्षण केवल स्वप्नद्रष्टा ही है, वही सब कुछ है और वही सबसे परे है।



संगति— इस प्रकार अपने को सत् और असत् से परे बताकर भगवान् ने व्यतिरेक-दृष्टि प्रस्तुत की। इससे अर्जुन को यह जिज्ञासा हुई कि इससे अतिरिक्त क्या है और यदि भगवान् सत्-असत् से परे तो ये सत्-असत् क्या है। इस पर भगवान् अन्वय-दृष्टि से अपने सविशेषरूप का वर्णन करते हैं।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।  
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥१३॥

भावार्थ— वह सब ओर हाथ-पावों वाला है, सब ओर नेत्र, सिर और मुखों वाला है, लोक में सब ओर उसके कान हैं तथा वह सबको व्याप्त करके स्थित है।

व्याख्या— जैसे सबका कारण होने से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी में व्याप्त है, क्योंकि ये सब उसी से उत्पन्न हुए हैं। तथा इन सबसे अलग भी है। अथवा ये सब आकाश स्वरूप ही हैं और उसी के अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार जैसे सूर्य की किरणें उससे भिन्न दिखायी देने पर भी वास्तव में उससे अभिन्न हैं, समुद्र की तरंगें पृथक् दीखने पर भी समुद्र से अपृथक् हैं तथा अनेक रूप में भासने वाला स्वप्न वास्तव में निर्विशेष स्वप्न-द्रष्टा से अभिन्न ही है उसी प्रकार यह सारा संसार भगवान् से अभिन्न है। केवल देखने में ही भिन्न-सा भासता है।

जिस प्रकार 'सर्व' कहने से जान पड़ता है कि कोई अल्प भी है उसी प्रकार 'निर्विशेष' कहने से सिद्ध होता है कि कोई सविशेष भी है। भगवान् ने १२ वें श्लोक में निषेधमुख से वर्णन किया था, अब विधिमुख से बतलाना आरम्भ किया है, अतः आगे के श्लोकों में भी वही बात कह रहे हैं।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।  
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥१४॥

भावार्थ— यह ब्रह्म सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों का प्रकाशक है तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों से पृथक् है। यह असंग किन्तु सब का भरण-पोषण करने वाला तथा निर्गुण किन्तु गुणों का भोक्ता भी है।



व्याख्या— वह सब इन्द्रियों को और उनके विषयों को प्रकाशित कर रहा है। अर्थात् सबको सत्ता देते हुए भी सबसे पृथक् है। जैसे सूर्य कमलों को जीवन प्रदान करते हुए भी उनसे अलग रहता है। वह सम्पूर्ण क्रियाएँ करते हुए भी निष्क्रिय है, यद्यपि सक्रिय-सा जान पड़ता है। इसी प्रकार सबका भरण-पोषण करने पर भी सबसे निर्लेप है। यद्यपि बिना सम्बन्ध हुए किसी का भरण-पोषण करना सम्भव नहीं है तथापि यहाँ यही अलौकिकता है कि वह सब कुछ करते हुए भी असंग है। इसी प्रकार वह निर्गुण होने पर भी गुणों का भोक्ता है वह परमात्मारूप से निर्गुणरूप में विराजमान है और भगवद्रूप से सगुण रूप में। तथा वही स्वयं निर्गुण होने पर भी जीव रूप में गुणों का भोक्ता है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

भावार्थ— वही सम्पूर्ण भूतों के बाहर और भीतर है तथा वहीं स्थावर और जंगमरूप भी है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय है तथा वह दूर भी है और समीप भी।

व्याख्या— वह अन्तर्यामीरूप से पञ्चकोशों के भीतर होने के कारण सब भूतों के भीतर है तथा पञ्चभूतों का साक्षी होने के कारण सबके बाहर है। इस प्रकार भूतों की रचना करने पर भी वह भूतों से भिन्न है। प्राणरूप से वह चर है तथा जड़रूप होने के कारण अचर है। वही चेतन होने के कारण भोक्ता है और जड़ होने के कारण भोग्य है। पञ्चकोशों का साक्षी होने के कारण वह अत्यन्त समीप है और पञ्चभूतों का साक्षी होने से दूर है। इन्द्रियों का विषय न होने के कारण वह अत्यन्त सूक्ष्म है, इसीलिए वह बुद्धि आदि के द्वारा जाना नहीं जा सकता।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥



**भावार्थ—** वह अविभक्त होने पर भी भूतों में विभक्त-सा स्थित है। उसे भूतों का भरण करने वाला होने पर भी भूतों का संहार करने वाला और उत्पत्ति करने वाला जानना चाहिये।

**व्याख्या—** इससे पहले श्लोक में जिसे अविज्ञेय कहा था उसी को अब जानने योग्य बतला रहे हैं क्योंकि सम्पूर्ण भूतों में विभागरहित होने पर भी वह विभक्त-सा जान पड़ता है। जैसे तरंगों में जल और आभूषणों में सुवर्ण अभिन्न होने पर भी ये भिन्न से जान पड़ते हैं, इसी प्रकार स्वरूपतः अभिन्न होने पर भी वह परमात्मा मायिक-दृष्टि से विभिन्न-सा प्रतीत होता है। अज्ञानी तो अपने को शरीर ही समझता है और विवेकी को यह अनुभव नहीं होता कि जिस दृश्य वर्ग से मैं अपने को असंग अनुभव करता हूँ वस्तुतः वह भी मैं ही हूँ। किन्तु तत्त्ववेत्ता जानता है कि यह जड़-चेतन कुछ नहीं, एक आत्मा ही आत्मा है। अतः जो दृश्य को भिन्न एवं जड़ समझते हैं वे भी तत्त्वदर्शी नहीं कहे जा सकते; वास्तव में तो—‘हरिदेव जगज्जगदेव हरिः’ (हरि ही जगत् हैं और जगत् ही हरि हैं) इस प्रकार एक ही सत्ता का अनुभव होना ही ज्ञान है और अनेक सत्ता समझना अज्ञान है। विभाग होने पर ही उसमें उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भासते हैं। यह सब माया की उपाधि के कारण हैं और माया की उपाधि से ही वह भूतों की उत्पत्ति आदि करने वाला और ज्ञेय जान पड़ता है।

**ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।**

**ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥**

**भावार्थ—** वह ज्योतियों का भी ज्योति (प्रकाशक) और तम से परे कहा जाता है। वह ज्ञानस्वरूप, जानने योग्य और विचारगम्य है तथा सभी के हृदय में स्थित है।

**व्याख्या—** ज्योतियाँ चार प्रकार की हैं—सूर्य, चन्द्र, अग्नि और विद्युत्। वह इन चारों का प्रकाशक है तथा तम (अज्ञान या अन्धकार) का भी प्रकाशक है, इसीलिए उसे तम से परे बताया है। तम का प्रकाशक तम से परे होना ही चाहिए। तम या अज्ञान ही सबका कारण



है और वह अज्ञान का साक्षी है, इसलिये अज्ञान से परे है, क्योंकि सुषुप्ति अज्ञान है और वह सुषुप्ति का अनुभव करने वाला है। वही ज्ञान-ज्ञानस्वरूप, ज्ञेय-विवेक द्वारा जानने योग्य और ज्ञानगम्य-विचारगम्य अथवा पूर्वोक्त अमानित्वादि ज्ञान के साधनों से अनुभव में आने वाला है, कर्म या उपासना से नहीं। इससे आगे भगवान् कहते हैं कि वह प्राणिमात्र के हृदय में स्थित है, अतः उसे अन्यत्र ढूँढ़ना व्यर्थ है।

**इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।**

**मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥**

**भावार्थ—** इस प्रकार मैंने क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेय का संक्षेप से वर्णन किया। मेरा भक्त इन्हें जान लेने पर मेरे भाव (निर्विशेष-स्वरूप) को प्राप्त हो जाता है।

**व्याख्या—** भगवान् का सविशेषस्वरूप तो सम्मुख उपस्थित ही है, अतः यहाँ निर्विशेष-स्वरूप की प्राप्ति ही कही गयी है। तात्पर्य यह कि जैसे जल, जल में मिल जाता है उसी प्रकार वह स्वरूपतः मुझ से अभिन्न हो जाता है।

यहाँ भगवान् ने जो संक्षेप से निरूपण करने की बात कही है वह समय के संकोच के कारण है, क्योंकि युद्धस्थल में किसी भी विषय का विस्तार से वर्णन नहीं किया जा सकता।

**प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।**

**विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥१९॥**

**भावार्थ—** तुम प्रकृति और पुरुष दोनों ही को अनादि जानो। किन्तु विकार और गुणों को प्रकृति से ही होने वाले समझो।

**व्याख्या—** प्रकृति का अर्थ है माया, क्योंकि उपनिषद् में आया है—‘मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।’ गीता में भी जहाँ ‘माया’ शब्द का प्रयोग हो वहाँ प्रकृति ही समझनी चाहिये। तथा ‘पुरुष’ से परमात्मा का शुद्धस्वरूप ग्रहण करना चाहिये। ये प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं तथा दोनों ही अव्यक्त हैं। अव्यक्त से ही सृष्टि उत्पन्न होती है, जैसा कि अध्याय ८ श्लोक १८ में कहा



है—'अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे'। किन्तु बोध होने से पहले ही ये दो अनादि जान पड़ते हैं, बोध होने पर तो एक ही सत्ता रह जाती है। विकार और गुण ये प्रकृति से ही होते हैं। अध्याय १३ श्लोक ५ में जो 'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च' इत्यादि विकार कहे गये हैं वे सब मायाकल्पित ही हैं। पुरुष में कभी कोई विकार नहीं होता, क्योंकि वह असंग है।

**संगति**—अब प्रकृति और पुरुष दोनों के पृथक्-पृथक् स्वभावों का वर्णन करते हैं। यह श्लोक कापिल सांख्य के अनुसार है।

**कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।**

**पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥**

**भावार्थ**—वीर्य, करण और कर्तापन में प्रकृति निमित्त कही जाती है तथा सुख-दुःख भोगने में पुरुष हेतु कहा जाता है।

**व्याख्या**—यहाँ पुरुष को जो भोक्ता कहा गया है वह प्रकृति का सङ्ग होने पर ही समझना चाहिये, क्योंकि अविवेक की अवस्था में ही पुरुष अपने को भोक्ता समझता है, विवेकख्याति हो जाने पर नहीं।

आकाशादि पञ्चभूत और उनके शब्दादि गुण ही कार्य कहे जाते हैं। पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन ये ग्यारह करण हैं तथा अहंकार कर्ता है। ये सब प्रकृति के कार्य हैं, अतः प्रकृति ही इनकी निमित्त या हेतु है। तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। चेतन पुरुष का प्रकृति के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध होने से ही सब व्यवहार चल रहा है। किन्तु विवेकख्याति होने पर जब यह सम्बन्ध निवृत्त हो जाते हैं तो फिर पुरुष इस सब व्यापार से मुक्त हो जाता है और पुनः यह सम्बन्ध नहीं होता; जैसे कि दूध से निकला हुआ मक्खन पुनः दूध में नहीं मिलता। यह सांख्य और योग का सिद्धान्त है।

**वेदान्त-सिद्धान्त** तो अद्वैतवादी है। उसके अनुसार तो प्रकृति या माया की सत्ता ही नहीं है। जो भी कार्य-करण-कर्तृरूप प्रपञ्च देखा जाता है वह सब अविद्याजनित है। अविद्या की निवृत्ति होने पर यही अनुभव होता है कि इसका अत्यन्ताभाव है। यह केवल प्रतीतिमात्र



है, वास्तव में नहीं। यहाँ पुरुष को जो भोक्ता कहा गया है वह केवल जिज्ञासु को समझाने के लिए है वास्तव में वह भोक्ता नहीं है। यही बात अगले श्लोक में स्पष्ट करते हैं।

**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।**

**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥**

**भावार्थ—**पुरुष प्रकृति में स्थिति होने पर ही प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख रूप गुणों को भोगता है। इसके पुण्य और पाप योनियों में जन्म लेने में गुणों का सङ्ग ही कारण है।

**व्याख्या—** इस श्लोक में 'पुरुष' शब्द शुद्ध आत्मा का वाचक है, कर्ता-भोक्ता का नहीं।

**प्रश्न—** शुद्ध आत्मा में कर्ता-भोक्तापन कैसे हो जाता है?

**उत्तर—** प्रकृति में स्थित होने से। प्रकृति में स्थित होना ही अस्वास्थ्य है, इसी से उसमें यह विकार भासता है। जब वह स्वस्थ अर्थात् अपने में स्थित होता है तब इस रोग से मुक्त हो जाता है। वास्तव में तो वह स्वस्थ ही है, केवल अज्ञान से ऐसा भासता है।

**प्रश्न—** किन्तु उस निर्विकार ब्रह्म में यह विकार हुआ ही क्यों?

**उत्तर—** यह वास्तव में हुआ कुछ नहीं, केवल भासता है। जैसे निर्विकार आकाश में बादल हो जाते हैं तो वह मलिन-सा जान पड़ता है, परन्तु उस समय भी वास्तव में वह स्वच्छ और निर्विकार ही है, वह उनसे सर्वथा असंग है और वस्तुतः तो बादल भी आकाश-रूप ही है उनकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है। इसी बात को सूर्य के दृष्टान्त से भी समझ सकते हैं। जैसे सूर्य सर्वदा ज्योतिस्वरूप ही है, परन्तु उसी से उत्पन्न हुए बादल उसे ढक लेते हैं तो वह मलिन-सा जान पड़ता है। परन्तु उस समय भी वह रहता पूर्ववत् ही है। इसी प्रकार केवल अज्ञान के कारण शुद्धस्वरूप आत्मा विकारी-सा जान पड़ता है।

**प्रश्न—** यह अज्ञान है क्या और क्यों हुआ?

**उत्तर—** वेदान्त के सिद्धान्तानुसार शुकदेव, वामदेव और वसिष्ठादि तथा सम्पूर्ण शास्त्र अज्ञान के ही कार्य हैं। तब यह कौन



बतलावेगा कि अज्ञान क्या है और क्यों हुआ? क्या स्वप्न-पुरुष भी स्वप्न का कारण और स्वस्वरूप बता सकता है?

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।  
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥२२॥

भावार्थ— वह पुरुष इस देह में स्थित हुआ भी इससे परे है, क्योंकि वह उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा कहा गया है।

व्याख्या— इस श्लोक में कहे हुए विशेषण केवल शुद्ध-चेतन के नहीं हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न उपाधियों के कारण उसके ये नाम हैं। माया के साथ सम्बन्ध होने से वह भर्ता (ईश्वर) है और अविद्या के साथ मिलने से वह भोक्ता (जीव) है। किन्तु इनसे सम्बद्ध होने पर भी वह तीनों देहों से अतीत है। इन शरीरों से परे जो पुरुष है वही साक्षी होने के कारण उपद्रष्टा है, वही समष्टि साक्षी शुद्ध-चेतन है। पञ्चकोश का साक्षी होने के कारण वह अनुमन्ता है। अर्थात् सबको अनुभव करने वाला और अनुमति देने वाला है। उसका मौन रहना ही उसकी अनुमति है—‘मौनं स्वीकृतिलक्षणम्।’ प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों बुद्धि के कार्य हैं, और वह बुद्धि का साक्षी है, इसलिये अनुमन्ता है। वही भर्ता है अर्थात् भरण-पोषण करने वाला है, क्योंकि आत्मा की सत्ता के बिना चिदाभास कुछ भी नहीं कर सकता। वही मन-बुद्धि को स्फूर्ति देता है अतः जीवरूप से भोक्ता है। अथवा जैसे सूर्य अन्धकार को भोग लेता है अर्थात् लीन कर देता है उसी प्रकार अविद्या को ध्वंस करके वह अपने में स्थित हो जाता है तथा बोध होने पर अव्यक्त से लेकर स्थूलपर्यन्त सम्पूर्ण प्रपञ्च को खा जाता है, इसलिये वह भोक्ता है। वही महेश्वर-महान् ईश्वर है क्योंकि कीली पर चाक के समान सारा संसार-चक्र उसी पर घूम रहा है। तथा वही परमात्मा है, उससे आगे और कोई आत्मा (अपना स्वरूप) नहीं है।

इस श्लोक में ‘च’ और ‘अपि’ से समष्टि-व्यष्टि साक्षियों की एकता दिखलायी है, जैसे कि घटाकाश और महाकाश की एकता है।



यहाँ 'उपद्रष्टा' से 'भोक्ता' तक के विशेषण व्यष्टिसाक्षी के हैं तथा 'महेश्वर' और 'परमात्मा' से समष्टि साक्षी के विशेषण हैं। 'अपि' शब्द इन्हें पूर्व विशेषणों से जोड़ता है, अतः सूचित होता है कि ये दोनों एक ही हैं, यहाँ क्षेत्रज्ञ का प्रसंग है, अतः महेश्वर और परमात्मा भी स्वरूप को ही कहा है, किसी अन्य को नहीं।

**य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।**

**सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥**

भावार्थ— जो इस प्रकार पुरुष और गुणों के सहित प्रकृति को जानता है वह सब प्रकार बर्तता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता।

व्याख्या— तत्त्वज्ञ किसी भी प्रकार रहे उसका जन्म नहीं होता। बाह्य व्यापार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। प्रारब्धानुसार उनकी रहनी अनेक प्रकार की होती है जैसा कि कहा है—

**क्वचिच्छिष्टः क्वचिद्भ्रष्टः क्वचिद् भूतपिशाचवत्।**

**नानारूपधरो योगी विचचार महीतले ॥**

अर्थात् तत्त्वज्ञ पृथ्वी-तल में अनेक रूपों में विचरता है। कहीं वह शिष्टाचार का पालन करता है, कहीं भ्रष्टाचारी हो जाता है और कहीं भूत-प्रेतों का-सा आचरण करता है। कोई तत्त्वज्ञ अवधूत-वृत्ति में रहते हैं, कोई राज्य शासन करते हैं और कोई कर्म या उपासना में लगे रहते हैं, अध्याय ६ श्लोक ३१ में भी कहा है 'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।' किन्तु बोध हो जाने पर फिर उसकी अनात्मा में आत्मबुद्धि नहीं होती। वह जाग्रदादि किसी भी अवस्था में रहे उसकी आत्मदृष्टि का लोप नहीं होता। उसे कभी संशय या विपर्यय नहीं होता, क्योंकि एक सच्चिदानन्द के अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता वह नहीं देखता। यही उसका पुनः जन्म न लेना है और यही गुणों के सहित प्रकृति को जानना है। वास्तव में एक चिन्मात्र से भिन्न प्रकृति की कोई सत्ता नहीं है-ऐसा जानना ही प्रकृति को जानना है।

संगति— यह सिद्धान्त कहा गया। अब अगले दो श्लोकों में यह बतलायेंगे कि किन-किन साधनों से इसकी प्राप्ति होती है—



ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।  
 अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥२४॥  
 अन्ये त्वेवजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।  
 तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥२५॥

भावार्थ—कोई तो आत्मा का अन्तःकरण द्वारा ध्यान से साक्षात्कार करते हैं। कोई सांख्ययोग के द्वारा और कोई कर्मयोग से उसका अनुभव करते हैं। दूसरे जो इन साधनों से अपरिचित हैं वे अन्य (गुरुजनों) से सुनकर आत्मा की उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार से पार हो ही जाते हैं।

व्याख्या—चार प्रकार के अधिकारी होते हैं—उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ और कनिष्ठतर उनके लिये यहाँ चार ही प्रकार के साधन बताये गये हैं। उत्तम तो ध्यान (निदिध्यासन) के द्वारा आत्मा का अपने शुद्ध अन्तःकरण में साक्षात्कार करते हैं। मध्यम सांख्ययोग के द्वारा विवेकपूर्वक उसका अनुभव करते हैं। कनिष्ठ कर्मयोग के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होने पर उसकी उपलब्धि करते हैं और कनिष्ठतर गुरुजनों से श्रवण करके फिर भजन-उपासना द्वारा उसे प्राप्त करते हैं। इस प्रकार ये चारों ही मृत्युरूप संसार से पार हो जाते हैं। अधिकारी-भेद से इन चारों के ही मार्ग यथार्थ हैं।

यहाँ जो निष्काम कर्मयोगी को कनिष्ठ और श्रुतिपरायण को कनिष्ठतर अधिकारी बताया है उसका कारण यह है कि उन्हें वैराग्य नहीं होता। इन्हें परम्परा से आत्मतत्त्व की उपलब्धि होती है।

प्रश्न—पहले जो दो साधन निदिध्यासन और विवेक बतलाये हैं उनमें क्या अन्तर है?

उत्तर—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध और सुख-दुःख—ये मुझसे पृथक् हैं, मैं इनका साक्षी हूँ, इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है—ऐसी वृत्ति जाग्रत रखना विवेक है। तथा इनका निषेध होने पर जो आत्माकार वृत्ति होती है उसका प्रवाह एवं विजातीय वृत्ति का त्याग निदिध्यासन या ध्यान है। ये दोनों जिज्ञासु के साधन हैं। जब ऐसा



अनुभव हो कि इन शब्दादि की कोई सत्ता नहीं है, ये केवल प्रतीतिमात्र हैं, तो इनसे असंग रहना अथवा इन्हें अपना स्वरूप ही मानना ब्रह्माभ्यास या ब्रह्माकार वृत्ति है। यह बोधवान् का अभ्यास है। यद्यपि वृत्ति ब्रह्म का आकार धारण नहीं कर सकती, अतः ब्रह्माकार वृत्ति कहना बनता नहीं तथापि जब कोई भी संकल्प न रहे तो वह आप ही रह जाता है, इसलिए इसे ब्रह्माकार वृत्ति कहते हैं; जैसे कमरे में से सब सामान निकाल लिया जाय तो फिर कमरा स्वयं ही रह जाता है।

**प्रश्न—** आत्मा तो देखने में नहीं आता, फिर उसका ध्यान कैसे होगा?

**उत्तर—** आत्मा देखने की वस्तु नहीं, क्योंकि वह स्वयं है तथा आत्मा दिखाने या छिपाने की वस्तु नहीं, क्योंकि वह स्वयं है अथवा यों कहो कि आत्मा देखने में नहीं आता—यही आत्मा को देखना है, यही उसका ध्यान है और यही ज्ञान है। स्वरूप को देखने की इच्छा करना ही अज्ञान है। अरे! काँई को हटा देना ही तो जल को देखना है। जल तो वहाँ है ही, केवल काँई ने उसे ढँक लिया है। इसी प्रकार यह संसार वास्तव में है नहीं—ऐसा अनुभव होने पर वह स्वयं ही रह जाता है।

**यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।**

**क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि**

**भरतर्षभ ॥२६॥**

**भावार्थ—** हे भरतश्रेष्ठ! यह जो कुछ भी स्थावर-जंगम दृश्य उत्पन्न हुआ है उसे तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न हुआ जानो।

**व्याख्या—** यह भगवान् ने कापिल सांख्य का सिद्धान्त कहा है। वे ही प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं तथा जतने क्षेत्र हैं उतने ही क्षेत्रज्ञ या पुरुष मानते हैं। वेदान्त प्रक्रिया में तो एक ही द्रष्टा और एक ही दृश्य माना गया है। तथा दृश्य की अपनी सत्ता नहीं मानी जाती उसकी उत्पत्ति स्वप्न के समान अनिर्वचनीय है, वास्तविक नहीं।



संगति—अब यह बतलाते हैं कि यथार्थ देखने वाला कौन है—  
**समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठतं परमेश्वरम्।**  
**विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥२७॥**

भावार्थ— जो सम्पूर्ण भूतों में समान भाव से स्थित और उनका नाश होने पर भी अविनाशी रहने वाले परमेश्वर को देखता है वही वास्तव में देखता है।

व्याख्या— जो सम्पूर्ण भूतों में परमात्मा को स्थित देखता है वही यथार्थ देखता है। जैसे घट में वास्तव में मिट्टी ही है, घट की उत्पत्ति, स्थिति और नाश तीनों कालों में मिट्टी के सिवा और कुछ नहीं है। अतः घट का नाश होने पर भी मिट्टी का नाश नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञान-दृष्टि से जो सम्पूर्ण भूतों का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं देखता अथवा जो ऐसा देखता है कि कार्य का ध्वंस उसका नाश नहीं है, अपितु उसमें कारण-बुद्धि हो जाना ही उसका नाश है। घट का न रहना उसका नाश नहीं है अपितु उसमें मृत्तिकाबुद्धि हो जाना ही घट का नाश है, क्योंकि मृत्तिका से भिन्न घट की अपनी कोई सत्ता नहीं है, इसी प्रकार जो आत्मा से भिन्न भूतों की सत्ता नहीं देखता वही यथार्थ देखता है। जो उनकी भिन्न सत्ता देखता है वह तो नेत्रहीन है।

**समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।**  
**न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥२८॥**

भावार्थ—सब में समान रूप से स्थित ईश्वर को जो सर्वत्र सम भाव से देखता है वह अपने आत्मा का स्वयं घात नहीं करता और इस दृष्टि के कारण परम गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

संगति— उपर्युक्त दो श्लोकों में तत्त्ववेत्ताओं की उच्च दृष्टि का निरूपण हुआ है। जो इसके अधिकारी नहीं हैं उनके लिए इससे नीची दृष्टि बतलायी जाती है—



प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।

य पश्चति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥२९॥

भावार्थ— जो आत्मा को अकर्ता तथा सम्पूर्ण कर्मों को प्रकृति के द्वारा किये जाते देखता है वह भी यथार्थ देखता है।

व्याख्या— यहाँ प्रकृति की सत्ता स्वीकार की गयी है, इसलिये यह दृष्टि पूर्वापेक्षा निम्न कोटि की है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥३०॥

भावार्थ—जिस समय तत्त्वज्ञ भूतों के पृथक्-पृथक् भाव को एक आत्मतत्त्व में ही स्थित देखता है और इस सम्पूर्ण प्रपञ्च के विस्तार को भी उसी से हुआ जानता है उस समय वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— जब तक भेद-दृष्टि है तभी तक अज्ञान है; जो अध्यस्त को अधिष्ठान में और अधिष्ठान को अध्यस्त में देखता है वही यथार्थदर्शी है। आकाशादि पाँचों भूत और शब्दादि विषय ये सब ब्रह्मरूप ही हैं, उससे भिन्न इनकी सत्ता नहीं है तथा उसी से इनका विस्तार हुआ है—ऐसा जो देखता है वही यथार्थ देखता है। अथवा जो पृथ्वी को जल में, जल को तेज में, तेज को वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को अहंकार में, अहंकार को महत्तत्त्व में और महत्तत्त्व को प्रकृति में स्थित देखता है तथा प्रकृति से ही इस सम्पूर्ण प्रपञ्च का विस्तार देखता है वह उसी समय ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। इसी भाव को आगे ३४ वें श्लोक में विशेष स्पष्ट करेंगे।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥३१॥

भावार्थ— यह परमात्मा (शुद्ध आत्मा) अनादि और निर्गुण होने के कारण अविनाशी है। हे कुन्तीपुत्र! यह शरीर में रहने पर भी न कुछ करता है और न लिपायमान होता है।

व्याख्या— अनादि तो प्रकृति भी है, किन्तु वह निर्गुण नहीं है, इसलिये उसका अन्त होता है, किन्तु आत्मा अनादि और निर्गुण है इसलिए वह अविनाशी है।



यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।  
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥३२॥

भावार्थ—जिस प्रकार सम्पूर्ण भूतों में स्थिति होने पर भी आकाश सूक्ष्म होने के कारण उनसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार देह में सर्वत्र स्थित होने पर भी आत्मा [ उसके दोषों से ] लिप्त नहीं होता।

व्याख्या—जैसे धूलि से आकाश मलिन नहीं होता उसी प्रकार शरीर की मलिनता से आत्मा मलिन नहीं होता। इसकी पुष्टि अगले श्लोक में करते हैं।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥३३॥

भावार्थ—जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है उसी प्रकार एक ही क्षेत्रज्ञ सम्पूर्ण क्षेत्र (दृश्य) को प्रकाशित करता है।

व्याख्या—तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार एक ही सूर्य समस्त भिन्न-भिन्न लोकों को प्रकाशित करता है और उनके गुण-दोषों से असंग ही रहता है उसी प्रकार एक ही चिद्घन आत्मा समस्त भिन्न-भिन्न शरीरों को सत्ता-स्फूर्ति देता है, तथापि उनके गुण-दोषों से अलिप्त ही रहता है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं

ज्ञानचक्षुषा।

भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥३४॥

भावार्थ—जो इस प्रकार ज्ञान नेत्रों से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को तथा भूत और प्रकृति से मुक्ति को जानते हैं वे परमपद को प्राप्त हो जाते हैं।

व्याख्या—जो ज्ञान-नेत्र अर्थात् विवेक-दृष्टि से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को तथा भूत (कार्यवर्ग) और प्रकृति (कारण) इन दोनों से मुक्त होने को अर्थात् इनसे पुरुष के सम्बन्धविच्छेद को अथवा



इनके अत्यन्ताभाव को जानते हैं—अनुभव करते हैं, वे परमपद को प्राप्त हो जाते हैं।

यहाँ 'भूतप्रकृतिमोक्षम्' एक ही पद है। तात्पर्य यह है कि पहले क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विभाग करना चाहिये और फिर भूत एवं प्रकृति (कार्य और कारण) का अत्यन्ताभाव देखना चाहिये। यही इनसे मुक्त होना है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां  
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे  
क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥१३॥





श्री परमात्मने नमः  
श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

## अथ चतुर्दशोऽध्यायः

**संगति—**गीता में सभी विषयों का प्रतिपादन है। द्वादश अध्याय में भक्तियोग का वर्णन है और भगवान् के सगुण-साकार विग्रह की प्रधानता है। वहाँ 'मय्येव मन आधत्स्वमयि बुद्धि निवेशय' आदि कहकर भगवान् ने अपनी उपासना और अपने प्रति आत्मसमर्पण को ही मुख्य साधन बताया है। किन्तु तेरहवें अध्याय में सगुणोपासना की कोई चर्चा नहीं है। वहाँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग के द्वारा पुरुष को अकर्ता-अभोक्ता और दृश्य को गुणमयी प्रकृति का कार्य बतलाया है। तात्पर्य यह कि यदि साधक की किसी भी साधन में सच्ची निष्ठा हो जाय तो उसी से उसे भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

अब इस अध्याय में पहले प्रकृति और प्रकृति के कार्य का विचार किया जायगा। इसके पश्चात् प्रकृति के गुणों से छूटने का उपाय बतलाकर फिर गुणातीत पुरुष के लक्षण बतलाये जायेंगे। इस अध्याय में मानो जीवात्मा की चिकित्सा की गयी है। जिस प्रकार रोग को दूर करने के लिये वैद्य पहले रोग का निदान करता है। फिर रोग का कारण जानकर औषधि और पथ्य का निश्चय करता है। तभी पूर्ण आरोग्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार यहाँ यह विचार किया जायगा कि प्रकृति और पुरुष का संयोग (बन्धन) क्या है? प्रकृति से किस प्रकार छुटकारा हो सकता है? उसके लिये किन नियमों का पालन करना चाहिये? तथा प्रकृति से छूटे हुए पुरुष के क्या लक्षण हैं?

इस प्रकार हम देखते हैं कि बारहवें अध्याय में भक्ति-योग का निरूपण है, तेरहवें में ज्ञान के साधन बतलाये गये हैं और अब इस अध्याय में सब ज्ञानों में उत्तम ज्ञान का वर्णन किया जाता है—



श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि जनानां ज्ञानमुत्तमम्।  
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिं मितो गताः॥१॥

भावार्थ—श्री भगवान् बोले—अब मैं सम्पूर्ण ज्ञानों में उत्तम ज्ञान का वर्णन करूँगा, जिसे जानकर मननशील जिज्ञासु इस लोक से परम सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त हुए हैं।

व्याख्या— भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं कि अब मैं पहले कहे हुए सब ज्ञानों की अपेक्षा उत्तम ज्ञान का वर्णन करूँगा, जिसे प्राप्त करके वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, शुकदेवादि मुनिगण स्वरूप-साक्षात्कार-रूपा परमसिद्धि को प्राप्त हो गये। यहाँ 'ज्ञात्वा' शब्द से ऐसा भाव निकलता है कि भगवान् ज्ञान के साधनों का वर्णन करेंगे, जिनका आचरण करने से मुनिगण मोक्षपद को प्राप्त हुए हैं।

प्रश्न— मुनि के क्या लक्षण हैं?

उत्तर— श्रीमद्भागवत में कहा है—

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा।  
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ् मुनिः॥

अर्थात् कोई अच्छा या बुरा करे तो उसकी प्रशंसा या निन्दा न करे तथा कहने वाले के जो गुण-दोषों की चर्चा न करे वह समदृष्टि पुरुष मुनि है।

प्रश्न— मुनि की रहनी कैसी होती है?

उत्तर—

न कुर्यान्नवदेत्किञ्चन ध्यायेत् साध्वसाधु वा।  
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः॥

अर्थात् अच्छा बुरा कुछ भी न तो करे, न कहे और न चिन्तन करे। सदा आत्मा में रमण करे। ऐसी वृत्ति से मुनि मूर्ख के समान विचरता रहे।

प्रश्न— साधु के क्या लक्षण हैं?



उत्तर—लक्षण तो बहुत हैं। उपर्युक्त श्लोकों में भी साधु के ही लक्षण हैं। परन्तु सबसे उत्तम बात यह है कि उसे दृश्यमात्र आकाश-कुसुमवत् जान पड़े। वही सन्त है, वही तत्त्ववेत्ता है और वही ज्ञाननिष्ठ है। अथवा जिसे किसी प्रकार की व्यथा न व्यापे वही असली सन्त है। साधु के लिये दीनता सबसे बड़ा दुःख है। उसका भगवान् में प्रेम हो, जन्म-मरण का भय न हो, संसर्ग-दोष से रहित हो, कोई कामना न हो, मित्रादि में आसक्ति न हो तथा एकान्तवासी हो। जिसमें ये लक्षण हों वही पूरा सन्त है।

यहाँ भगवान् ने सर्वोत्तम ज्ञान कहने की बात कही है। ज्ञान तो अनेक प्रकार के हैं; जैसे भौतिक ज्ञान, रसायनिक ज्ञान और शास्त्रज्ञान इत्यादि। किन्तु इनसे मुक्ति नहीं होती। और तत्त्वज्ञान से मुक्ति हो जाती है। इसलिये यही सर्वोत्तम ज्ञान है। अणिमादि सिद्धियाँ भी अनेकों हैं, परन्तु तत्त्वज्ञान को किसी भी सिद्धि की इच्छा नहीं रहती, इसलिये इसे 'परा सिद्धि' कहा है।

संगति— अब अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि इस परा सिद्धि को प्राप्त करने का क्या फल है—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥२॥

भावार्थ—इस तत्त्वज्ञान का आश्रय लेने पर मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए पुरुष सृष्टि होने पर उत्पन्न नहीं होते और प्रलयावस्था में दुःखित नहीं होते।

व्याख्या—'मम साधर्म्यमागताः'—मेरे साधर्म्य अर्थात् समानता को प्राप्त हुए वे लोग, जिस प्रकार सृष्टि के उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में मैं असंग रहता हूँ उसी प्रकार असंग रहते हैं। उन पर इनका कोई प्रभाव नहीं होता। वे सृष्टि होने पर उत्पन्न नहीं होते और जब प्रलयकाल में सौ वर्ष तक तूफान चलता है, सौ वर्ष तक सौ गुने तेज से सूर्य तपता है और सौ वर्ष तक निरन्तर वर्षा होती है तब इन्हें कोई



कष्ट नहीं होता, क्योंकि उन सब कष्टों को ये मरु-मरीचिका के समान असत् देखते हैं।

यहाँ जो 'मम साधर्म्यमागताः' ऐसा कहा है, इससे पूर्णत्व की प्राप्ति सूचित होती है। अतः यह श्लोक ज्ञानपरक है। उपासना के द्वारा भगवल्लोक की प्राप्ति तो हो सकती है, किन्तु भगवत्ता की प्राप्ति नहीं होती। कुछ भेद रहता ही ही है। परन्तु ज्ञान के द्वारा ऐसा नहीं होता। जैसे घटाकाश और मठाकाश का भेद निवृत्त होने पर एक महाकाश ही रहता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण उपाधियों की निवृत्ति होकर एक निरुपाधिक निर्विशेष ब्रह्म ही रहता है। उससे किसी का कोई भेद नहीं रहता, क्योंकि उससे भिन्न किसी की सत्ता ही नहीं है।

**संगति—** इस पर जिज्ञासु को यह शंका होती है कि यदि कुछ हुआ ही नहीं तो यह प्रतीत क्या होता है। अतः उसे समझाने के लिये सृष्टि की उत्पत्ति का अध्यारोप करते हैं। वास्तव में तो सृष्टि हुई ही नहीं, केवल अध्यारोप से उसका वर्णन किया जाता है।

**मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।**

**संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥३॥**

**भावार्थ—** हे भारत! मेरी यह ब्रह्मरूपिणी माया योनि (गर्भाधान का स्थान) है। उसमें मैं चैतन्यरूप बीज स्थापित करता हूँ। उसी से सब भूतों की उत्पत्ति होती है।

**व्याख्या—** माया में जो शुद्ध चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है वही उसमें गर्भ स्थापन करना है। उस चिदाभास और माया से युक्त होने पर ही शुद्ध-चेतन ईश्वर कहलाता है और ईश्वर से ही सम्पूर्ण सृष्टि होती है।

**सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।**

**तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥४॥**

**भावार्थ—** हे कौन्तेय! सम्पूर्ण योनियों में जो-जो शरीर होते हैं उनका महद्ब्रह्म योनि (उत्पत्ति-स्थान) है और मैं बीज प्रदान करने वाला पिता हूँ।



**व्याख्या—**इस प्रकार माया के साथ शुद्ध-चेतन का आध्यामिक सम्बन्ध होने पर ही सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है। माया के बिना शुद्ध-चेतन निष्क्रिय और निर्विकार हैं तथा ब्रह्म के बिना माया सत्ताशून्य है, अतः उनमें अकेला कोई सृष्टिरचना नहीं कर सकता; जैसे केवल अग्नि या केवल लकड़ी होने पर कुछ नहीं हो सकता, जब दोनों का संयोग होने पर आग सुलगती है तभी रसोई पक सकती है।

**संगति—** अब जीव के बन्धन का कारण बतलाते हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।

निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥५॥

**भावार्थ—** हे महाबाहो! प्रकृति से होने वाले सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण इस अविनाशी जीव को देह में बाँध देते हैं।

**व्याख्या—** गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है और पुरुष के साथ इसका सम्बन्ध होने का कारण अज्ञान है। ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं अर्थात् अज्ञानवश इनकी साम्यावस्था भंग होती है और ये कार्योन्मुख होते हैं तो देही अर्थात् तीनों देहों के अभिमानी जीव को देह के साथ बाँध देते हैं। ये तीनों गुण रस्सी की तीन भानियों के समान हैं। जीव यद्यपि स्वरूपतः अविनाशी है किन्तु देह से बँध जाने पर वह उसके गुणों का आरोप करके अपने को मरने-जन्मनेवाला और सुखी-दुःखी मानने लगा है। चेतन शुद्ध और निर्विकार है तथा प्रकृति अशुद्ध और विकारी है, किन्तु वह पुरुष की सत्ता से ही सब कार्य करती है जैसे कमल सूर्य की सत्ता से हो खिलता है।

**प्रश्न—** आत्मा तो नित्यमुक्त है, उसे गुणों ने कैसे बाँध लिया?

**उत्तर—** तीनों देहों का अभिमान होने पर जीव गुणों से बँध जाता है और देहाभिमान छूटने पर उनसे मुक्त हो जाता है यहाँ सत्त्वगुण को भी इसीलिये बाँधने वाला कहा है क्योंकि आगे गुणातीत के लक्षण बतलाने हैं।



संगति— अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि सत्त्वगुण किस प्रकार जीव को बाँधता है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।

सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥६॥

भावार्थ— हे निष्पाप! इन तीनों गुणों में सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक और दुःखरहित है। वह जीव को सुख और ज्ञान की आसक्ति से बाँधता है।

व्याख्या— सुख की आसक्ति अर्थात् रसास्वाद और ज्ञान की आसक्ति ज्ञानाभिमान। ये भी गुणजनित होने के कारण जीव को बाँधने वाले हैं। यह सुख और ज्ञान का बन्धन दुःख और मोह के बन्धन की अपेक्षा भी सुदृढ़ होता है, क्योंकि इसमें जीव की गुणबुद्धि होती है, इसलिये वह इससे छूटना नहीं चाहता।

प्रश्न— सुख-संग और ज्ञान-संग बाँधने वाले हैं—इसका क्या भाव है?

उत्तर— साधक जब एकाग्रता का अभ्यास करता है तो उसे बड़ा सुख जान पड़ता है। उसे ही रस कहते हैं। अनेकों साधक इतने में ही अपने को कृतकृत्य मान लेते हैं। अतः उससे असंग न होने के कारण वे वहीं रुक जाते हैं। यह सुखासक्ति का बन्धन है। इसी प्रकार अनेकों साधक द्रष्टा-दृश्य-विवेक होने पर ही अपने को ज्ञानी मान बैठते हैं तथा दूसरों को हीन दृष्टि से देखते हैं। यह ज्ञानाभिमान-जनित बन्धन है। ये दोनों परिस्थितियाँ सत्त्वगुण की कार्य होने पर भी हैं बन्धन ही, इनके कारण साधक आगे नहीं बढ़ पाता। इसी से कहा है—‘येन त्यजसि तत्त्यज’ अर्थात् जिस त्यागाभिमान से सब कुछ त्याग किया है उसे भी त्याग।

संगति— अब रजोगुण किस प्रकार बन्धन है, यह बतलाते हैं—  
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।  
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥७॥



**भावार्थ**—रागस्वरूप रजोगुण को तुम तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न हुआ समझो। हे कुन्तिनन्दन! यह जीव को कर्म की आसक्ति में बाँध देता है।

**व्याख्या**—कर्म में प्रवृत्ति होना रजोगुण है और वह तृष्णा तथा आसक्ति से होती है। कर्म और कर्मफल का आग्रह होना रजोगुण का ही लक्षण है, जो स्वरूपतः राग-रूप ही है। यह अविवेक से बढ़ता है और विवेक से निवृत्ति होता है।

**प्रश्न**—राग और तृष्णा में क्या अन्तर है?

**उत्तर**—जो वस्तु प्राप्त हो चुकी है उसका चिन्तन होना राग है और जो प्राप्त नहीं हुई उसका चिन्तन होना तृष्णा है। तथा अप्राप्त वस्तु के लिये प्रयत्न करना कर्म है।

**प्रश्न**—राग की निवृत्ति कैसे हो?

**उत्तर**—संसार में मुख्य रोग राग ही है और वह दूर भी राग से ही होता है। सांसारिक वस्तु और व्यक्तियों में राग होना मोह है। सब लोग इसी से बँधे हुए हैं। इसकी निवृत्ति होती है भगवत्प्रेम से। धर्म या कर्मकाण्ड में राग होना श्रद्धा है और भगवान् में राग होना प्रेम है। जब तक भगवान् के सिवा कोई और वस्तु दिखलायी देती है तब तक पूर्ण प्रेम नहीं कर सकते। जब केवल भगवान् ही रह जायें तभी पूर्ण प्रेम समझना चाहिये। परन्तु राग-द्वेष छूटना है कठिन, अतः राग-द्वेषी पुरुषों का संग नहीं करना चाहिये।

**प्रश्न**—यदि राग-द्वेषी पुरुषों में ही रहना पड़े तो क्या करे?

**उत्तर**—जो अविवेकी है उन्हें तो सावधान रहना चाहिये। विवेकी का सम्बन्ध तो अपने शरीर से भी नहीं होता, उस पर उनका क्या प्रभाव पड़ेगा। तथा जो तत्त्वज्ञ हैं उनके लिये तो यह सारा संसार अपना ही संकल्प है। भला, स्वप्नद्रष्टा से कभी स्वप्न-पुरुषों का सम्बन्ध होता है। मनोराज्य के पुरुषों का मन से क्या सम्बन्ध। हाँ, मनोराज्य के पुरुष मनः-स्वरूप तो हो सकते हैं तथा स्वप्न-पुरुष भी स्वप्नद्रष्टा के स्वरूप हो सकते हैं, परन्तु उनका मन या स्वप्नद्रष्टा से सम्बन्ध नहीं हो सकता।



संगति— अब यह बतलाते हैं कि तमोगुण किस प्रकार बन्धनरूप है—

तमस्त्वज्ञानज विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।

प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥८॥

भावार्थ— हे भारत! तमोगुण को तुम अज्ञान से उत्पन्न और सभी देहधारियों को मोह में डालने वाला समझो। वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा से बाँधता है।

व्याख्या— प्रमाद व्यर्थ चेष्टा को कहते हैं और आलस्य कर्तव्य कर्म में ढील करना है ये देहासक्ति से होते हैं और देहासक्ति तमोगुण का कार्य है।

संगति— यहाँ तक तीनों गुणों के बन्धन बतलाये अब गुणों के स्वभाव बतलाते हैं।

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।

ज्ञानामावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥९॥

भावार्थ— हे भारत! सत्त्वगुण सुख में आसक्त करता है, रजोगुण कर्म में लगा देता है और तमोगुण ज्ञान को आच्छादित कर प्रमाद में लगा देता है।

व्याख्या— सत्त्वगुण भजन-साधन से होने वाले रस में आसक्त कर देता है। रजोगुण श्रौत-स्मार्त कर्मों में, लोक सेवा में तथा हँसी-दिल्ली में लगा देता है। तथा तमोगुण विचार-शक्ति को कुण्ठित कर प्रमाद में जैसे शतरंज-ताश आदि खेलना या व्यर्थ समय बिताना आदि में लगा देता है।

ये सुख आदि भी गुणों की प्रधानता आदि के कारण अनेक प्रकार के हैं।

संगति— अब इनके पारस्परिक सम्बन्ध बतलाते हैं—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।

रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥१०॥



**भावार्थ—**हे भारत! रजोगुण को दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है।  
तथा सत्त्व और तम को दबाकर रजोगुण एवं सत्त्व और रज को  
दबाकर तमोगुण की वृद्धि होती है।

**संगति—**अब अगले श्लोक में सत्त्वगुण की वृद्धि के लक्षण  
बतलाते हैं।

**सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।**

**ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥**

**भावार्थ—**जिस समय इस शरीर के सब इन्द्रिय द्वारों में  
प्रकाश और ज्ञान की वृद्धि हो उस समय समझना चाहिये कि सत्त्वगुण  
बढ़ रहा है।

**व्याख्या—**भाव यह कि जब अन्तःकरण में आनन्द का प्रवाह  
बहने लगे, सुख-सा मालूम हो, शान्ति का अनुभव हो तथा इन्द्रियाँ  
शान्त हो जायँ और किसी प्रकार का काम करने की रुचि न हो, किन्तु  
निद्रा, आलस्य या मोह की भी स्थिति न हो उस समय सत्त्वगुण की  
वृद्धि तथा रजोगुण-तमोगुण का ह्रास समझना चाहिये।

**संगति—**अगले श्लोक में रजोगुण की वृद्धि के लक्षण  
बतलाये जाते हैं—

**लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।**

**रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥**

**भावार्थ—**हे भरतश्रेष्ठ! रजोगुण की वृद्धि होने पर लोभ, प्रवृत्ति,  
कर्मों का आरम्भ, अशान्ति और इच्छा—इनकी उत्पत्ति होती है।

**व्याख्या—**अपनी वस्तु को त्यागने में असमर्थ होना लोभ है।  
निवृत्ति मार्ग की ओर से उपेक्षा होना, अर्थात् मकान, बगीचा, पाठशाला  
आदि बनवाना प्रवृत्ति है। एक काम समाप्त होने पर दो काम तैयार  
रहें, काम छिड़े ही रहें, कर्मप्रवाह से अवकाश ही न मिले—यह कर्मों  
का आरम्भ है। उपरति का अभाव अशान्ति है, स्वर्गादि अथवा मोक्ष  
की इच्छा होना भी स्पृहा है। ये पाँचों बातें रजोगुण के कारण होती  
हैं। जब ये उत्पन्न हों तो रजोगुण की वृद्धि समझनी चाहिये।



संगति— अब तमोगुण की वृद्धि के लक्षण बतलाये जाते हैं—  
 अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।  
 तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

भावार्थ— हे कुरुनन्दन! जब तमोगुण बढ़ता है तब बुद्धि में अप्रकाश, आलस्य, प्रमाद और मोह—ये सब उत्पन्न हो जाते हैं।

व्याख्या— सुख-शून्य होना अनात्मा में आत्मबुद्धि होना, यह अविवेक ही अप्रकाश है। क्रियाशून्य होना अथवा अपने वर्णाश्रमोचित धर्मों का यथा समय पालन न करना अप्रवृत्ति (आलस्य) है। व्यर्थ चेष्टा करना अथवा किसी प्रयत्नपूर्वक करने योग्य कार्यकी उपेक्षा कर देना और न करने योग्य को करने का प्रयत्न करना प्रमाद है। विचारशून्यता, अज्ञान और विपरीत भावना ही मोह है। ये सब तमोगुण के कार्य हैं। जब ये उत्पन्न हों तो समझो तमोगुण बढ़ रहा है।

संगति— यहाँ तक तीनों गुणों की वृद्धि के लक्षण कहे। अब यह बतलाते हैं कि सत्त्वगुण की वृद्धि के समय मरकर मनुष्य किस लोक को प्राप्त होता है—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।  
 तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

भावार्थ—जब देहधारी सत्त्वगुण की वृद्धि के समय मरता है तो वह उत्तमविदों (उत्तम आचरण वालों) के निर्मल लोकों को प्राप्त होता है।

व्याख्या—जैसे भारतवर्ष में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, पंजाब आदि प्रान्त हैं उसी प्रकार उत्तमविदों के लोक ब्रह्मलोक में वैकुण्ठ, साकेत और कैलास आदि हैं। ये सब पुण्यलोक हैं और निर्मल हैं—जरा-मरणादि दुःखों से रहित तथा दिव्य सुख-सामग्री से सम्पन्न हैं। इनमें सत्त्वगुणी पुरुष जाते हैं।

संगति—अगले श्लोक में रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि में मरने वालों की गति का वर्णन करते हैं—



रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।  
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥१५॥

भावार्थ—रजोगुण की वृद्धि में मरने पर कर्मासक्त पुरुषों में

जन्म होता है और तमोगुण के समय मरने वाला मूढ योनियों में उत्पन्न होता है।

व्याख्या—कर्मकाण्डी या उद्योगबहुल लोग ही कर्मासक्त हैं तथा शूद्र, पशु-पक्षी आदि मूढ योनियाँ हैं। तमोगुण में तीन बातों की प्रधानता होती है—अधिक सोना, मादक द्रव्यों का सेवन और ताश-शतरंज आदि खेलना।

संगति—अगले दो श्लोकों में तीनों गुणों के फल और परिणाम बतलाते हैं—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।

रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥१६॥

भावार्थ—सुकृत (पुण्य) कर्म का तो सात्त्विक और निर्मल फल है। रजोगुण का फल दुःख है और तमोगुण का फल अज्ञान (हिताहित का ज्ञान न होना अथवा विस्मृति) है।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥१७॥

भावार्थ—सत्त्वगुण से ज्ञान (व्यावहारिक ज्ञान या विवेक) होता है। रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है तथा तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान ही उत्पन्न होते हैं।

व्याख्या—सात्त्विक पुरुष सब काम विचारपूर्वक करता है। रजोगुण से ऐहिक और पारलौकिक भोगों का लोभ बढ़ता है। तमोगुण से स्त्री-पुत्रादि का रागरूप मोह बढ़ता है। पहले देह में आत्मबुद्धि होती है, फिर स्त्री-पुत्र एवं धनादि की ममता बढ़ जाती है।

संगति—अब इन तीनों गुणों से युक्त पुरुषों की विभिन्न गतियों का वर्णन करते हैं—



ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥१८॥

भावार्थ—सत्त्वगुणी लोग ब्रह्मलोक आदि ऊपर के लोकों में जाते हैं, रजोगुणी मध्यवर्ती मनुष्य लोक में रहते हैं तथा पाप वृत्ति में रहने वाले तमोगुणी पुरुष नरकादि नीचे के लोकों में जाते हैं।

प्रश्न—ज्ञान का प्रसंग छोड़कर बीच में गुणों के वर्णन की क्या आवश्यकता पड़ी?

उत्तर—गुणों को त्यागना है इसलिये उनके लक्षण और फल जानने आवश्यक थे। इन तीनों गुणों का फल किन्हीं न किन्हीं लोकों की प्राप्ति है।

संगति—अब गुणों के त्याग द्वारा भगवत्प्राप्ति या स्व-स्वरूप की प्राप्ति बतलाते हैं—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥१९॥

भावार्थ—जिस समय द्रष्टज्ञ गुणों से भिन्न और किसी को कर्ता नहीं देखता और अपने को गुणों से परे देखता है उस समय वह मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—जिस समय विवेक करते हुए द्रष्टा कर्ता, कर्म और क्रिया की त्रिपुटी को त्रिगुणमयी देखता है और अपने को उससे भिन्न उसका साक्षीमात्र जानता है उस समय वह गुणों के बन्धन से मुक्त होकर मेरे स्वरूप को अर्थात् स्वस्वरूप को प्राप्त हो जाता है। समष्टि-व्यष्टि दोनों द्रष्टाओं की अभिन्नता ही मद्भाव या पूर्णता है। इस पूर्णता को प्राप्त होकर वह निर्भय हो जाता है।

इस प्रकार सारा प्रपञ्च भिन्न है और द्रष्टा उससे भिन्न एवं असंग है। वास्तव में वह सब भी द्रष्टा की दृष्टि का ही विलास है, सब उसी में है, सब वही है। उससे भिन्न सबका अत्यन्ताभाव है, सब चराचर सृष्टि स्वप्ननगर, मनोराज्य या आकाश-कुसुम के सदृश है। जिसकी ऐसी दृष्टि है वही गुणातीत है। जिस समय द्रष्टा कर्ता-भोक्ता



को अपने से भिन्न अनुभव करता है उसी समय सारी सृष्टि का संहार हो जाता है। किन्तु उपासना में ऐसा नहीं है कि द्रष्टा अन्य है और कर्ता-भोक्ता अन्य। ज्ञान-मार्ग में ही दोनों का भेद किया जाता है और यह विवेक होने से शरीर का तादात्म्य टूट जाता है। जिस समय चित्तवृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। किन्तु जब तक अपने को कर्ता-भोक्ता या उपासक मानता है तब तक गुणातीत नहीं होता। यह श्लोक बोधपरक है, यही तत्त्वदृष्टि है।

**प्रश्न**—ठीक है किन्तु मैं यह जानना चाहता हूँ कि शुद्ध स्वरूप का क्या लक्षण है?

**उत्तर**—शुद्ध स्वरूप ही तुरीय है। उसका लक्षण माण्डूक्योपनिषद् में इस प्रकार किया है—‘नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं ना प्रज्ञम्’ इत्यादि। ‘नान्तः-प्रज्ञम्’ यह स्वप्न का निषेध किया। ‘न बहिः प्रज्ञम्’ यह जाग्रत् का निषेध किया। ‘नोभयतः प्रज्ञम्’ यह सन्धि का निषेध है। ‘न प्रज्ञानघनम्’ यह सुषुप्ति का निषेध है। ‘न प्रज्ञम्’ यह ज्ञान का निषेध है। ‘नाप्रज्ञम्’ यह अज्ञान का निषेध है। इस प्रकार जिसमें सभी अवस्थाओं का निषेध है वह तुरीय है। उसका क्या लक्षण किया जाय?

**संगति**—अगले श्लोक में मुक्त का लक्षण बतलाते हैं—

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

**भावार्थ**—देहधारी जीव देह से उत्पन्न होने वाले इन तीनों गुणों को पार कर लेने पर जनम मरण और वृद्धावस्था के दुःखों से छूटकर अमर पद प्राप्त कर लेता है।

**व्याख्या**—**प्रश्न**—आपने जो कहा कि इन गुणों को पार कर लेने पर पुरुष अमर पद प्राप्त कर लेता है, सो क्या ज्ञान होने पर ही उसे मुक्ति मिल जाती है या शरीर त्यागने पर।



उत्तर—नहीं, शरीर भी रहता है और मुक्त भी हो जाता है। जिस प्रकार मकान बेच देने पर या किसी को दे देने पर मकान बना रहता है, नष्ट नहीं होता, किन्तु मकान वाला उससे मुक्त भी हो जाता है। फिर उसे मकान के टूटने-फूटने पर विक्षेप नहीं होता। इसी प्रकार शरीर भी रहता है और मुक्त भी हो जाता है।

संगति—अब अर्जुन को शंका हुई कि देह रहते हुए पुरुष किस प्रकार गुणों से अतीत हो जाता है, अतः वह शंका करता है।

अर्जुनोवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।

किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

भावार्थ—प्रभो! किन लक्षणों के द्वारा पुरुष इन गुणों से अतीत होता है। उसका कैसा आचरण होता है और किस प्रकार वह इन गुणों से अतीत होता है?

व्याख्या—प्रश्न—जब तक शरीर है कर्म होंगे ही, तो हम कैसे जानेंगे कि वह गुणातीत है, इसको बोध हो गया है। क्या कर्मफल का त्याग करने वाले को ही गुणातीत करते हैं।

उत्तर—कर्म तो स्वयं गुणों के अन्तर्गत है। कर्मफल त्यागने पर भी कर्म तो रहेंगे ही। अतः जिसे ऐसा अनुभव है कि ये कर्म मरु-मरीचिका के जल के समान हैं, इनकी अपनी कोई सत्ता नहीं है वह गुणातीत है। गुणातीत के लक्षण शरीर की क्रियाओं से प्रतीत नहीं हो सकते, क्योंकि यह विषय स्वसंवेद्य है। तथापि अपने आपको पहचानने के लिये भगवान् कुछ लक्षण बतलाते हैं।

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥

भावार्थ—श्री भगवान् बोले—हे पाण्डुपुत्र! [गुणातीत पुरुष इन गुणों के कार्य] प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह के आने पर उनसे द्वेष नहीं करता और ये न आवें—ऐसी इच्छा नहीं करता।



**व्याख्या**—वह तीनों गुणों में से किसी में राग या द्वेष नहीं करता, क्योंकि वह इन्हें मरुभूमि के जल के समान असत् समझता है। वह प्रकाश प्रवृत्ति और मोह तीनों अवस्थाओं से असंग और उदासीन रहता है। उसमें न कर्तृत्व रहता है न भोक्तृत्व। अतः उसमें प्रवृत्ति का कर्तृत्व तथा प्रकाश है, किन्तु मोह का भोक्तृत्व न रहने के कारण इनका कोई अर्थ नहीं रहता। देह-दृष्टि से इनकी प्रतीति होने पर भी स्वरूपदृष्टि से उसमें इनका अस्तित्व नहीं रहता। इसी से व्यवहार में यद्यपि उसकी विभिन्न प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं, तथापि ज्ञानदृष्टि से उसमें कोई भेद नहीं होता। यहाँ प्रवृत्ति न रहने का यह भी तात्पर्य है कि उसमें काम-क्रोधादि नहीं रहते।

**प्रश्न**—क्या ज्ञानी में काम-क्रोधादि नहीं रहते?

**उत्तर**—बोध दृष्टि से ज्ञानी में काम-क्रोधादि का अत्यन्त अभाव है। परन्तु अन्य पुरुषों को उसमें इनकी प्रतीति हो ही सकती है। मैं एक बात कहता हूँ, देखो, जिसमें काम-क्रोधादि दोष रहते हैं वह तो विषयी है और जिसमें ये नहीं रहते वह जिज्ञासु या साधक है। किन्तु बोधवान् तो इन दोनों से परे है। उसे कोई जान नहीं सकता कि वह क्या है और क्या करता है।

**प्रश्न**—बोध प्रवृत्तिनिष्ठ को भी हो जाता है या केवल निवृत्तिनिष्ठ को ही होता है।

**उत्तर**—बोध तो जिज्ञासु को होता है। जिसे तीव्र जिज्ञासा हो, वह प्रवृत्तिवाला हो चाहे निवृत्ति वाला उसे बोध हो सकता है। प्रवृत्ति-निवृत्ति तो प्रारब्धाधीन है। इनका बोध से कोई सम्बन्ध नहीं है।

**प्रश्न**—बोध होने पर निवृत्ति की प्रधानता रहती है या प्रवृत्ति की?

**उत्तर**—श्री शंकराचार्यजी के मतानुसार तो निवृत्ति की प्रधानता रहती है और लोकमान्य तिलक के अनुसार प्रवृत्ति की। परन्तु मेरा विचार तो ऐसा है कि जिसका जैसा प्रारब्ध होता है उसी के अनुसार वह दोनों में से किसी मार्ग का अनुसरण करने लगता है।



संगति—अब चार श्लोकों में गुणातीत के आचरण बतलाते हैं—  
 उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।

गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥२३॥

भावार्थ—जो उदासीन (निष्पक्ष व्यक्ति) की तरह रहता हुआ गुणों के द्वारा चलायमान नहीं होता तथा गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं—इस प्रकार वर्तता हुआ जो किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करता [वह गुणातीत है।]

व्याख्या—गुणातीत उदासीन की तरह स्थित रहता है। यदि दो व्यक्तियों में कोई विवाद उपस्थित हो तो वह किसी को बुरा नहीं कहता। तटस्थ होकर साक्षीरूप से देखता रहता है। जैसे नदी के तल में कोई बड़ी शिला पड़ी हो तो उसके ऊपर होकर कितने ही जल, बुद्बुद और फेन आदि चले जायँ उस पर उनका कोई प्रभाव नहीं होता, उसी प्रकार बोध होने पर किसी भ्रष्टी प्रकार प्रवृत्ति उसे बोधनिष्ठा से विचलित नहीं कर सकती। इस श्लोक से यह भी निश्चय होता है कि गुणातीत में भी रहते तो हैं, परन्तु वह बोधवान् को उसकी निष्ठा से विचलित नहीं कर सकते। यदि गुण रहते ही नहीं तो गुणातीत के लक्षण भी क्या कहे जाते। अतः यह निश्चय हुआ कि तत्त्ववेत्ता प्रवृत्ति और निवृत्तिसे चलायमान नहीं होता। वह जैसे निर्विकल्प समाधि को देखता है वैसे ही विक्षेप में भी रहता है। वह तीनों गुणों से क्या, क्रियामात्र से ही उदासीन रहता है, क्योंकि वे सब देह-धर्म हैं, इनका आत्मा से तो कोई सम्बन्ध है नहीं। वह दुःखों में उद्विग्न नहीं होता और सुखों की इच्छा नहीं करता। इन्हें इस प्रकार देखता है मानों किसी अन्य के शरीर में हों अथवा वह जो कुछ देखता है सबको मायामात्र समझता है, जैसा कि योगवासिष्ठ में कहा है—‘ये केचन जगद्भावा विद्धि मायां मनोमयीम्’ अर्थात् जगत् के जितने भी पदार्थ हैं उन्हें मनःकल्पित माया ही मानो।



इस श्लोक में यह बतलाया है कि ठीक-ठीक विवेक होने से ही साधक गुणातीत हो जाता है। इसके लिये समाधि की आवश्यकता नहीं है। यहाँ निष्काम कर्म या उपासना द्वारा अभिमत क्रममुक्ति की भी चर्चा नहीं है। केवल विचार द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति बतलायी है।

**समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।  
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥२४॥**

**भावार्थ—**वह स्वस्वरूप में स्थित हुआ सुख-दुःख में समान दृष्टि रखने वाला होता है। ढेले, पत्थर, और सुवर्ण में उसकी समान दृष्टि रहती है। प्रिय और अप्रिय में वह एक-सा रहता है तथा निन्दा-स्तुति में भी वह वीर-पुरुष समान ही रहता है।

**व्याख्या—**बाईसवें श्लोक में कहा है कि वह प्रवृत्ति और निवृत्ति में समान रहता है, क्योंकि उसे सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति की इच्छा नहीं रहती। अर्थात् उसकी वृत्ति न सुख में रहती है न दुःख में। शरीर अनात्मा है और सुख-दुःख शरीर के ही धर्म हैं, अतः अनात्म-धर्म होने के कारण इनसे भी आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। इनसे असङ्ग होने के कारण वह समभाव में स्थित रहता है।

**प्रश्न—**जब वृत्ति सुख-दुःख में नहीं रहती तो कहाँ रहती है?

**उत्तर—**यहाँ 'समदुःख-सुख' के पश्चात् कहा है 'स्वस्थः' अर्थात् वह अपने में ही रहती है। उस समय आत्मा अपनी महिमा में स्थित रहता है।

वह 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' होता है। अर्थात् ढेले, पत्थर, लोहे और सोने में उसकी समान दृष्टि होती है, न किसी में प्रीति होती है न अप्रीति। इसका यह अर्थ नहीं कि उसे उनका भेद प्रतीत नहीं होता, किन्तु ठीक-ठीक परिचय होने पर भी उसका किसी में राग या द्वेष नहीं होता। अथवा यह समझना चाहिये कि उसकी देह में अहंता नहीं होती। अहंता होने पर ही धन संग्रह किया जाता है। वह तो इन सबको मायामात्र देखता है इसलिये उसके लिये ये सब समान ही हैं। उसकी



किसी में ममता नहीं होती। प्रिय-अप्रिय तथा बिन्दा स्तुति में भी उसका समान भाव रहता है। वह स्वस्थ है, सर्वज्ञ है और बुद्धि का प्रेरक है इसलिये धीर भी है। [धियं राति प्रेरयति इति धीरः।]

**मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।**

**सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥२५॥**

**भावार्थ—**जो मान-अपमान में समान है, शत्रु और मित्र के पक्ष में सम है तथा सब प्रकार के आरम्भों को त्यागने वाला है, वह गुणातीत कहलाता है।

**व्याख्या—**वह समान सत्ता में स्थित है, इसलिये मान-अपमान तथा शत्रु-मित्र के पक्ष में तुल्य रहता है। जब दो व्यक्तियों में झगड़ा होता है तो वह किसी का पक्ष नहीं लेता, केवल द्रष्टा मात्र रहता है। अनात्मा में आत्मबुद्धि होने से अर्थात् देहात्मबुद्धि होने से ही आरम्भ होता है। उसकी देहबुद्धि है नहीं तो आरम्भ कैसे होगा? अथवा जब सृष्टि की सत्ता ही नहीं तो आरम्भ कैसे होगा? किसमें करेगा? इस प्रकार आरम्भ का न होना ही उसका सर्वारम्भ परित्याग है। मनोराज्य द्वारा भले ही कोई पचास मञ्जिल का मकान बनाये। परन्तु उस मकान के ऊपर, नीचे, बीच में और इधर-उधर आकाश ही तो है और वह मकान भी आकाश से भिन्न और क्या है। मकान की तो सत्ता ही नहीं है, सब आकाशमात्र है। यहाँ जो मकान का आरम्भ है वह मनोमात्र ही तो है। आरम्भ हुआ ही कहाँ। यही उसका सर्वारम्भ-परित्याग है। अतः आरम्भ का त्याग केवल निवृत्तिनिष्ठ ही नहीं करता, सच्चा सर्वारम्भ-परित्यागी तो आत्मनिष्ठ ही है और वही गुणातीत है।

ये गुणातीत के लक्षण स्वयंवेद्य हैं, इन्हें दूसरा कोई नहीं जान सकता। यहाँ संकेतमात्र से इनकी चर्चा की गयी है।

**संगति—**श्रीभगवान् ने अर्जुन के तीन प्रश्नों में से पहले का उत्तर २२ वें श्लोक से दिया, दूसरे का श्लोक २३, २४ और २५ से



दिया। तथा अब तीसरे प्रश्न का उत्तर देते हैं। अब यह बतलायेंगे कि इस गुणातीत अवस्था को प्राप्त करने का उपाय क्या है। इसके लिये अव्यभिचारिणी भक्ति को ही मुख्य रूप से वर्णन कर रहे हैं।

**मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।**

**स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय**

**भावार्थ—** जो पुरुष अनन्य भक्तियोग के द्वारा मेरा भजन

करता है वह इन गुणों को पार करके ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति में समर्थ होता है।

**व्याख्या—** भक्ति दो प्रकार की होती है—व्यभिचारिणी और अव्यभिचारिणी। आज शिवजी की, कल कृष्ण की, परसों राम की—इस प्रकार जिसकी उपासना बदलती रहती है वह व्यभिचारिणी भक्ति है। ऐसे उपासक का कभी कल्याण नहीं होता और यदि निरन्तर एक इष्ट, एक गुरु, एक मन्त्र और एक शास्त्र रहे तो यह अव्यभिचारिणी भक्ति है। अथवा जो भक्ति इस लोक, परलोक और सिद्धियों के सुख को त्याग कर निष्काम भाव से की जाय वह अव्यभिचारिणी है। उसी को अहैतुकी भक्ति भी कहते हैं। अथवा 'उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं', इस उक्ति के अनुसार जिसकी दृष्टि में अपने इष्ट के सिवा दृश्य की कोई सत्ता ही नहीं है, जिसे सम्पूर्ण प्रपञ्च इष्टमय प्रतीत होता है उसकी भक्ति अव्यभिचारिणी है। इसे ही अनन्य भक्ति भी कहते हैं, क्योंकि यहाँ अन्य का अत्यन्ताभाव है। जो ऐसी भक्ति करता है वह ब्रह्मभाव को प्राप्त होने में समर्थ होता है। वह भक्त पूर्ण परिपक्व होने पर सगुण भाव को पार करके निर्गुण ब्रह्मभाव प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार भक्ति करते-करते जब वैराग्य होगा तब विचार द्वारा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होगी।

**संगति—** यहाँ उपासना को साधन और ज्ञान को फल बतलाया है। यह श्लोक सगुण परक है। आगे इसी की पुष्टि करते हैं—



ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥२७॥

भावार्थ—क्योंकि जो अमृत, अव्यय, शाश्वत, धर्मस्वरूप और एकमात्र सुखस्वरूप ब्रह्म है उसकी मैं प्रतिष्ठा हूँ।

व्याख्या—टीकाकारों ने इस श्लोक के कई प्रकार के अर्थ किये हैं। कोई इसे सगुण-परक लगाते हैं, कोई निर्गुण-परक। विवाद का मुख्य विषय 'प्रतिष्ठा' शब्द है। यदि प्रतिष्ठा का अर्थ उपलब्धि स्थान लिया जाय तो सगुण-परक अर्थ सुसंगत होगा और यदि इसका अर्थ आधार या अधिष्ठान लिया जाय तो निर्गुणपरक अर्थ की संगति लग सकेगी। यहाँ ऊपर से सगुणोपासना का प्रसंग चल रहा है। अतः अधिक उपयुक्त सगुणपरक अर्थ ही होगा। अब दोनों अर्थों का उल्लेख करते हैं—

यहाँ 'अमृतस्य' आदि सभी विशेषण षष्ठ्यन्त हैं, अतः इनका सम्बन्ध 'ब्रह्मणः' पद के साथ होगा। वह इस प्रकार—'अमृतस्य (अविनाशी), अव्ययस्य (अविकारी), शाश्वतस्य (नित्य), धर्मस्य (धर्मस्वरूप) ऐकान्तिकस्य (अखण्ड एकरस या एकमात्र) सुखस्य (सुख-स्वरूप) ब्रह्मणः (ब्रह्मकी) अहम् (मैं श्रीकृष्ण) प्रतिष्ठा (उपलब्धि स्थान) हूँ।'

निर्गुण-परक अर्थ में 'ब्रह्मणः' शब्द का अर्थ होगा श्याम ब्रह्म श्रीकृष्ण और 'अहम्' पद का अर्थ होगा अहमर्थ शुद्ध साक्षी। साक्षी ही सम्पूर्ण प्रपञ्च का अधिष्ठान है, अतः सगुण ब्रह्म श्रीकृष्ण का अधिष्ठान भी वही है। इस दृष्टि से निर्गुणवादी टीकाकार इसका निर्गुण-परक अर्थ करते हैं।

अब मैं अपना विचार कहता हूँ। भगवान् कह चुके हैं कि निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्ति का साधन मैं सविशेष ब्रह्म हूँ। इसीलिये वे कह रहे हैं कि उस निर्विशेष की प्रतिष्ठा (आश्रय या उपलब्धिस्थान)



मैं सविशेष ब्रह्म (श्रीकृष्ण) हूँ। यद्यपि निर्विशेष ही सविशेष की प्रतिष्ठा हो सकता है, तथापि उसकी उपलब्धि का मुख्य साधन होने के कारण भगवान् ने सविशेष को ही निर्विशेष की प्रतिष्ठा बतलाया है। इसका यह भी कारण हो सकता है कि अर्जुन को ऐसी शंका न हो जाय कि हमें जब आपका निर्विशेष स्वरूप प्राप्त करना है तो हम आपकी उपासना क्यों करें।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां  
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे  
गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥१४॥





ॐ

श्री परमात्मने नमः  
श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

## अथ पञ्चदशोऽध्यायः

**संगति—**पिछले अध्याय में यह बतलाया गया है कि जो पुरुष भगवान् के साकार या निराकार स्वरूप की उपासना करता है वही गुणातीत हो सकता है। अतः भगवान् की उपासना ही गुणातीत होने का उपाय है। इस प्रकार चौदहवें अध्याय में गुणातीत के लक्षण, आचार और साधन बताये गये। अब पन्द्रहवें अध्याय में यह बतलावेंगे कि किस प्रकार तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। यह अध्याय अत्यन्त महत्वपूर्ण है और गीता का सार है। पहले दो श्लोकों में संसाररूपी वृक्ष का निरूपण करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।  
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥१॥

**भावार्थ—** जिसकी जड़ ऊपर की ओर है और शाखाएँ नीचे की ओर हैं ऐसा यह संसाररूप वृक्ष अविनाशी कहा गया है। [कर्मकाण्ड रूप] वेद उसके पत्ते हैं। जो इस वृक्ष को जानता है वह वेद को जानता है।

**व्याख्या—** सब वृक्षों की जड़ता नीचे की ओर होती है और शाखा ऊपर की ओर। किन्तु इस संसार वृक्ष की यह विलक्षणता है कि इसकी जड़ ऊपर की ओर और शाखा नीचे की ओर बताये गये हैं, क्योंकि आत्मा से सबसे पहले अव्यक्त (प्रकृति) हुई और उससे महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार और अहंकार से क्रमशः आकाशादि पञ्चभूत हुए। इस प्रकार इसका मूल परमात्मा सबसे ऊपर है तथा और सब नीचे की ओर हैं। इसी से ऊर्ध्वमूल और अधःशाखा कहा है। इस वृक्ष को



अश्वत्थ अर्थात् कल न ठहरने वाला कहा है, क्योंकि वह क्षणभंगुर है, इसका एक क्षण का भी विश्वास नहीं है। कहा भी है—  
**जेहि जानत जग जाय हिराई। जागे जथा सुपन भ्रम जाई॥**

अर्थात् इसको तत्त्वतः जानने पर यह एक क्षण में नष्ट हो जाता है। फिर भी इसे अव्यय या अविनाशी कहा है, क्योंकि इसका प्रवाह समाप्त नहीं होता। अनादि काल से इसकी परम्परा इसी प्रकार चली आ रही है। अथवा इसका मूल परमात्मा अविनाशी है, इसलिये यह वृक्ष भी अविनाशी है। अथवा ज्ञान होने पर भी अज्ञान ही का नाश होता है, संसार का नहीं। यह तो ज्यों-का-त्यों बना रहता है, केवल ज्ञानदृष्टि से ही इसकी सत्ता नहीं रहती।

इसका जानना यही है कि इसकी उत्पत्ति मायिक है, जैसे कि अध्याय ८ श्लोक १८ में कहा है 'अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्ति।' अव्यक्त माया से उत्पन्न हुआ मन भी अव्यक्त है और यह सृष्टि मनोमयी है। अतः इसे मनोमात्र जानना ही इसे जानना है। जैसे नीम का बीज कड़वा होता है तो उससे उत्पन्न हुए वृक्ष के पत्ते, छिलके, लकड़ी आदि भी कड़वे ही होते हैं। संसार का मूल परमात्मा है, अतः यह भी परमात्मस्वरूप ही है। श्रुति कहती है— 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।' इस प्रकार जो तत्त्वतः इसे भगवत्स्वरूप जानता है वही वेद को जानने वाला है, क्योंकि वेद का चरम तात्पर्य यही है।

**प्रश्न—**वेदवित् तो भगवान् को जानने पर होना चाहिये, जो संसार को जानता है उसे वेदवित् क्यों कहा?

**उत्तर—**जाना तो संसार ही जाता है, स्वस्वरूप तो जाना नहीं जाता। जिसका यह अनुभव है संसार मुझसे भिन्न, मुझमें है, सब कुछ मैं ही हूँ, सबका अत्यन्ताभाव है, केवल मैं ही हूँ वही संसार को जानता है और वही वेदवित् है।

**प्रश्न—**सबका अत्यन्ताभाव है, इसका क्या तात्पर्य है?

**उत्तर—**घट-पट आदि पदार्थों के अभाव का तो भास होता है, किन्तु दृश्य के अभाव का भास नहीं होता। इसलिये उनके अभाव



को तो प्रागभाव आदि कहा गया है किन्तु दृश्याभाव को तो अत्यन्ताभाव कहा जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से दृश्य का कभी अभाव नहीं होता, किन्तु विचार दृष्टि से वह कभी हुआ ही नहीं। जो कभी हुआ नहीं उसका अभाव भी कैसे होगा। अभाव का भी अभाव होने के कारण उसका अत्यन्ताभाव है। इसकी प्रतीति नहीं होती; अनुभूति होती है और ऐसी अनुभूति होने पर त्रिपुटी का अभाव होकर सब कुछ अपना ही स्वरूप जान पड़ता है।

**प्रश्न**—प्रतीति और अनुभूति में क्या अन्तर है?

**उत्तर**—प्रतीति इन्द्रियों द्वारा होती है और अनुभूति अपने द्वारा। इसलिये प्रतीति का विषय सभी को भासता है अनुभूति अपने को ही भासती है। अर्थात् जो वस्तु सबको एक साथ भासे उसे प्रतीति कहते हैं, जो अपने आपको ही भासे उसे अनुभव कहते हैं।

**अधश्चोर्ध्व प्रसृतास्तस्य शाखा**

**गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।**

**अधश्च**

**मूलान्यनुसंततानि**

**कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥२॥**

**भावार्थ**—इस संसार-वृक्ष की शाखाएँ तीनों गुणों से वृद्धि को प्राप्त हुई हैं तथा वह विषयरूप कंपलों से युक्त हो अतल-वितल आदि नीचे के और भूर्भुवः आदि ऊपर के लोकों में फैली हुई हैं। इसकी कर्मानुबन्धिनी जड़ें मनुष्य लोक में नीचे तक फैली हुई हैं।

**व्याख्या**—पहले श्लोक में इस संसार-वृक्ष को ऊर्ध्वमूल कहा है और इसमें इसकी जड़ें मनुष्य लोक में नीचे तक फैली बतलायीं। इसका भाव है कि वास्तव में इसकी कोई जड़ नहीं है, इसकी शाखाएँ ही जड़ हैं। जड़ें सकाम कर्मरूप पत्तों से सुदृढ़ होती हैं, क्योंकि सकामकर्म ही जीव को बाँधते हैं। कर्म मनुष्य लोक में ही होते हैं, अन्यत्र नहीं। इसीलिये मनुष्य लोक में ही इन्हें फैली हुई कहा है।

**संगति**—अब वृक्ष को काटने का उपाय बतलाते हैं -



न रूपमस्येह तथोपलभ्यते

नान्तो न चार्दिनं च संप्रतिष्ठा।  
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-

मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥३॥  
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं

यस्मिन्नाता न निवर्तन्ति भूयः।  
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये

यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥४॥

**भावार्थ—**किन्तु (विचार करने पर) इस वृक्ष का वैसा रूप मिलता नहीं। न इसके आदि-अन्त और किसी आधार का ही पता चलता है। इस दृढ़ मूल वाले अश्वत्थ वृक्ष को असंगतारूप दृढ़ शस्त्र से छेदन कर फिर उस पद की खोज करनी चाहिये जहाँ जाकर फिर नहीं लौटते। मैं उस आदि पुरुष की ही वन्दना करता हूँ, जिससे इस प्राचीन प्रवृत्ति का विस्तार हुआ।

**व्याख्या—**इस संसार-वृक्ष के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि ज्ञान तो किसी अन्य का होता है। संसार की तो कोई अन्य सत्ता नहीं है। भाव वस्तु स्वसत्ता से भिन्न नहीं होती, इसलिए इसका कोई आदि-अन्त और आधार भी दिखायी नहीं देता। इसकी जड़ें भी बहुत दृढ़ हैं, इसलिये इसे काटना बड़ा कठिन है। अतः विवेकवती बुद्धि के द्वारा असङ्गतरूप सुदृढ़ शस्त्र से इसका छेदन करना चाहिये।

**प्रश्न—**बोध होने पर असंगता के अभ्यास की क्या आवश्यकता है?

**उत्तर—**आत्मा बोध स्वरूप है—ऐसा अनुभव हो जाने पर भी

आनन्द का अनुभव असंगता का अभ्यास किये बिना नहीं होता। अतः ब्रह्मानन्द न मिलने के कारण चित्त विषयानन्द से विमुख नहीं होता। विषयों का आकर्षण जन्म-जन्मान्तर का है, वह केवल बोध से निवृत्त नहीं होता। उसकी निवृत्ति के लिये असंगता का अभ्यास बहुत आवश्यक है। उससे आत्मानन्द की दृढ़ता होकर विषयों का आकर्षण भी निवृत्त



हो जाता है। फिर यह स्पष्ट अनुभव होने लगता है कि यह चराचर दृश्य मरुभूमि के जल के समान है और मैं इसका दृष्टा हूँ। जब यह अभ्यास सुदृढ़ हो जाता है तो स्वप्न में भी वही भाव रहता है। जो मनुष्य माँस नहीं खाता वह स्वप्न में भी माँस-भक्षण नहीं करता। जो सच्चा ब्रह्मचारी है वह स्वप्न में भी स्त्री सेवन नहीं करता। परन्तु ऊपरी बातें बनाने वालों पर तो थोड़ी-सी भी आपत्ति आ जाय तो सब ज्ञान भूल जायेंगे। सच्चा ज्ञान तभी समझना चाहिये जब सिर पर दुखों का पहाड़ टूट पड़े, तब भी अपनी निष्ठा में कोई अन्तर न आवे।

यह असङ्गता दो प्रकार की है—देह से और गेह से। मैं पञ्चकोशों से अतीत हूँ—ऐसा अनुभव करना देह से असङ्गता है तथा घर छोड़कर संन्यास ले लेना गेह से असङ्गता है।

इस प्रकार त्वं पद का शोधन तो हुआ। अब चौथे श्लोक से तत्पद का शोधन करते हैं। इस संसार-वृक्ष का असङ्ग-शस्त्र द्वारा छेदन करने के पश्चात् इस पद की खोज करनी चाहिये जहाँ जाकर फिर नहीं लौटते। वह पद है भगवान्। भगवान् क्या हैं, कहाँ हैं—ऐसा जानने की इच्छा ही उनकी खोज है। इस अवस्था में गुरुदेव महावाक्य का उपदेश करते हैं। उसीसे उस पद की प्राप्ति होती है, जहाँ से लौटकर फिर संसार-चक्र में नहीं आता।

संगति— उसके पश्चात् जिज्ञासु की जो स्थिति होती है वह अगले श्लोक में बतलाते हैं —

**निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा**

**अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।**

**द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुख-दुःखसङ्गै**

**र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥**

भावार्थ— जो मान और मोह से रहित हैं, जिन्होंने आसक्ति रूप दोष को जीत लिया है, जो निरन्तर आत्मविचार में लगे हुए हैं, जिनकी कामनाएँ दूर हो गयी हैं और जो सुख-दुःखरूप द्वन्द्व से मुक्त हो चुके हैं वे विचारशील पुरुष ही उस पद को प्राप्त होते हैं।



**व्याख्या—**‘निर्मानमोहाः’ अभिमान और मोह से रहित अर्थात् सर्वदा साधक भाव में रहने वाले, सिद्धि के अभिमान से दूर रहने वाले ‘जितसंगदोषाः’—स्त्री-पुत्रादि की ममता और संसार की आसक्ति से शून्य हो जाने पर भी प्रपञ्च की प्रतीति तो रहेगी ही, उसमें आसक्ति न हो इसलिये कहा—‘जितसंगदोषाः’। फिर ‘अध्यात्मनित्याः’ कहकर सूचित करते हैं कि इस अनासक्ति के लिये यह आवश्यक है कि सर्वदा आत्मविचार में लगा रहे। इससे साधक ‘विनिवृत्तकामाः’ अर्थात् कामनाहीन हो जायँगे तथा सुख-दुःखरूप द्वन्द्व भी नहीं रहेंगे। ऐसे ‘अमूढा’ मूढताहीन विचारशील पुरुष ही उस अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं।

अथवा जो असंग-शस्त्र से संसार वृक्ष का छेदन कर चुके हैं, वे मान-मोह से रहित होते हैं। मान-मोह से रहित होने पर वह संग-दोष को जीत लेते हैं। संग-दोष को जीत लेने पर वे निरन्तर अध्यात्मविचार में संलग्न रहते हैं। इससे उनकी सब कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं और पूर्ण निष्काम हो जाने पर सुख-दुःख रूप द्वन्द्वों का प्रभाव भी नहीं पड़ता। ऐसे विचारशील पुरुष ही उस परम पद को प्राप्त कर सकते हैं।

**प्रश्न—**संसार को मिथ्या जान लेने पर भी इसमें आसक्ति क्यों हो जाती है? यह जान लेने पर कि हाथी कागज का है फिर उसका तो कोई आकर्षण नहीं रहता।

**उत्तर—**नकली हाथी की आसक्ति छूटकर तो असली हाथी में हो जाती है, परन्तु संसार को मिथ्या जान लेने पर भी उसकी आसक्ति इसलिये नहीं छूटती कि आत्मा निरालम्ब पद है, चित्त संसार से उपर हो जाने पर भी अकस्मात् उसकी प्रवृत्ति दृश्य की ओर ही होती है। इसकी आसक्ति तभी छूट सकती है जब आत्मा में आसक्ति हो। इसलिये निरन्तर अभ्यास में लगे रहने की बहुत आवश्यकता है।

**प्रश्न—**अभ्यास करने की आवश्यकता कब तक है?



उत्तर—अभ्यास को कभी छोड़े नहीं। ऐसा अभ्यास करे कि और सब छूट जाय तथा आत्मा में आसक्ति हो जाय। अथवा ऐसा अनुभव होने लगे कि शरीर की सब चेष्टाएँ मानो परप्रेरित ही हो रही हैं।

संगति—अब उस अविनाशी पद का स्वरूप बतलाते हैं—

**न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।**

**यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥६॥**

भावार्थ—उस स्वयं प्रकाश पद को सूर्य प्रकाशित नहीं करता और न चन्द्रमा या अग्नि ही प्रकाशित करते हैं। जहाँ जाने पर फिर नहीं लौटते वही मेरा परम धाम है।

व्याख्या—सूर्य सम्पूर्ण जगत् का प्रकाशक होने पर भी उस पद को प्रकाशित नहीं कर सकता, क्योंकि स्वयंप्रकाशस्वरूप है तथा और सब भी उसी से प्रकाशित होते हैं। उस परम पद को प्राप्त होने पर इसलिये नहीं लौटते क्योंकि असंगशस्त्र से सबका छेदन करके ही तो उसे प्राप्त होते हैं। अतः इसमें उनकी कोई आसक्ति या वासना नहीं रहती। अथवा अभेद होने के कारण स्वस्वरूप से उसका कोई भेद भी नहीं रहता। जन्म तो उसी का होता है जो कर्ता-भोक्ता हो और कर्ता-भोक्ता तभी तक रहता है जब तक विवेक न हो। विक होने पर तो जिसके कारण अपने में कर्ता-भोक्तापन की भ्रान्ति होती है वह बुद्धि भी दृश्य के अन्तर्गत आ जाती है। इसीसे फिर नहीं लौटना पड़ता।

संगति—यदि यह शंका हो कि अखण्ड सच्चिदानन्द में तो जीवादि की सुष्टि होनी सम्भव ही नहीं है, तो इसका समाधान अगले श्लोक से किया जाता है—

**ममैवांशो जीवलोको जीवभूतः सनातनः।**

**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥७॥**

भावार्थ—इस जीव लोक में मेरा सनातन अंश ही जीवात्मा है, जो प्रकृति में स्थित मनसहित छहों इन्द्रियों को खींच लेता है।

व्याख्या—प्रश्न—जो ब्रह्म ब्रह्माण्ड-साक्षी था वह पञ्च कोशों का साक्षी जीव कैसे हो गया?



**उत्तर—** ईश्वर और जीव की शक्तियों में भेद है, स्वरूप में नहीं। ईश्वर सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ। इसीसे इनमें अंशांशी भाव माना गया है। यह भेद मायिक उपाधि के कारण है। जो वास्तविक शुद्ध और घट की उपाधि से उनमें भेद की प्रतीति होने लगती है तथा उनके मठाकाश-घटाकाश ये भिन्न-भिन्न नाम भी पड़ जाते हैं।

**प्रश्न—** जीवलोक से यहाँ क्या तात्पर्य है?

**उत्तर—** जो जीव के अनुभव में आता है, वही जीवलोक है। अथवा जीव की सृष्टि ही जीवलोक है। यहाँ सत्रह तत्त्वों के बने सूक्ष्म शरीर को ही 'जीव' कहा है, साक्षी को नहीं, क्योंकि साक्षी तो कूटस्थ है, उसमें आना-जाना नहीं है। सूक्ष्म शरीर में मन की प्रधानता है। वही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है और वही इस जीवात्मा को विभिन्न योनियों में ले जाता है। जीव को अपना सनातन अंश इसलिये कहा, क्योंकि वास्तव में तो कोई भेद है नहीं यह अंशांशी भाव तो घटाकाश-मठाकाश के समान केवल औपाधिक है।

**प्रश्न—** यदि जीव और ईश्वर में अभेद है तो जीव दुःखी क्यों रहता है?

**उत्तर—** मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकृति के अन्तर्गत हैं। ये जीव को विषय-भोगों में ले जाकर दुःखी बना देती हैं।

**संगति—** अगले श्लोक में यह बतलाते हैं कि जीव किस प्रकार जाता है।

**शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।**

**गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥**

**भावार्थ—** जब देह का स्वामी जीवात्मा प्राप्त शरीर का त्याग कर अन्य शरीर में जाता है तब वह इन (मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियों को इसी प्रकार ले जाता है जैसे वायु गन्ध को उसके आशय (आश्रय पृष्ण) से।



व्याख्या— यहाँ 'ईश्वर' शब्द से जीव ही समझना चाहिये। शरीर का स्वामी होने के कारण उसे ईश्वर कहा है।

श्रोत्रं चक्षु स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।

अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

भावार्थ— यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना और घ्राण इन्द्रिय तथा मन का आश्रय लेकर विषयों का सेवन करता है।

व्याख्या— यह स्वयं कुछ भी नहीं भोग सकता। मन और इन्द्रियों के द्वारा ही इसका सारा भोग होता है। यदि यह इनसे असंग हो जाय तो फिर विषयों का कोई आकर्षण नहीं रहेगा, फिर तो अनुकूल-प्रतिकूल सभी परिस्थितियों में साम्य हो जायगा।

संगति— अगले श्लोक में ज्ञानी और अज्ञानी के भोग का अन्तर बताते हैं।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

भावार्थ— उठते-बैठते तथा खाते-पीते समय अज्ञानी लोग अपने को गुणों से युक्त नहीं देखते, किन्तु जो ज्ञान-नेत्र वाले हैं वे देखते हैं।

व्याख्या— विवेकी पुरुष तो शरीर को उठने-बैठने अथवा खाने-पीने की क्रियाओं के समय उन्हें साक्षीभाव से गुणों के द्वारा प्रेरित देखते हैं, किन्तु अज्ञानी विवेकहीन होने के कारण अपने को ही कर्ता-भोक्ता मान कर ऐसा नहीं देखते। कोई-कोई लोग 'उत्क्रामन्तम्' का अर्थ 'देह त्याग करते समय' भी करते हैं, परन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि 'भुञ्जानम्' पद से यह सूचित होता है कि यह जीवितावस्था की ही बात है। 'गुणान्वितम्' से भी यही सूचित होता है कि गुणों के व्यापार के समय की ही यह स्थिति है। सारांश यह कि अज्ञानी उठते-बैठते तथा खाते-पीते समय यह देखता है कि मैं ही ये सब क्रियाएँ कर रहा हूँ और बोधवान् उन्हें गुणों का व्यापार समझते हुए अपने को अकर्ता-अभोक्ता देखता है। ज्ञान-चक्षु से देखने वाला



ही ज्ञानी है। विवेकवती बुद्धि ही ज्ञान-चक्षु है और यही तीसरा नेत्र कहा जाता है।

**प्रश्न—** ऐसा कहते हैं कि मरु भूमि का ज्ञान होने पर भी उसमें जल की प्रतीति होती ही है, उसी प्रकार ज्ञान होने पर भी संसार की प्रतीति होती रहती है; क्या यह बात ठीक है?

**उत्तर—** ऐसा कहना भी पूर्ण बोध नहीं है। पूर्णता तो यह है भी न रहे। प्रतीति का अभाव इसलिये है कि वास्तव में प्रतीति भी तो अपना स्वरूप ही है। मरुभूमि में जो जल की प्रतीति होती है वह भी मरुभूमि में तो है नहीं, वह भी अपने अन्तःकरण ही में है। इसी प्रकार संसार की प्रतीति भी अन्तःकरण में ही है, आत्मा में नहीं। आत्मदृष्टि से तो सब आत्मा ही है। जिस प्रकार मरुभूमि में जल कभी उत्पन्न नहीं हुआ उसी प्रकार आत्मा में संसार कभी उत्पन्न नहीं हुआ। उसकी केवल प्रतीति ही होती है और यह भी विवेक-काल में ही, बोध होने पर तो प्रतीति भी बाधित हो जाती है। अतः यह कहना कि संसार नाम-रूप है, ठीक नहीं। प्रतीति हो, किन्तु उसकी सत्ता न रहे — इसे ज्ञान कहते हैं और प्रतीति तथा सत्ता दोनों ठीक हैं— ऐसा कहना अज्ञान है। किन्तु प्रतीति का अभाव तो अभ्यास से होता है और अभ्यास कर्ता के द्वारा ही हो सकता है। किन्तु ज्ञान होने पर कर्ता रहता नहीं, इसलिये ज्ञान से प्रतीति नष्ट नहीं होती, केवल बाधित होती है। अतः सिद्धान्त तो यही है कि ज्ञान होने पर प्रतीति का भी अत्यन्ताभाव हो जाता है। यदि प्रतीति का अभाव या बाध न हो तो समझो कि बोध नहीं हुआ।

**संगति—** अब यह बतलाते हैं कि ज्ञान सबको क्यों नहीं होता?

**यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।**

**यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥११॥**

**भावार्थ—** योगिजन प्रयत्न करने पर इस आत्मा को अपने अन्तःकरण में देखते हैं, किन्तु जो अशुद्धचित्त अज्ञानी हैं वे तो यत्न करने पर भी इसे नहीं देख पाते।



व्याख्या— योगी—यहाँ— भक्तियोगी या निष्काम कर्मयोगी समझने चाहिये। वे ही प्रयत्न करने पर आत्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं। किन्तु जो 'अकृतात्मा' (अशुद्ध चित्तवाले) अचेतस् (अज्ञानी) हैं वे चाहे कितना ही प्रयत्न करें उसे देख नहीं सकते। हाँ, कोई कितना ही पापी हो यदि अनन्यभाव से मेरी उपासना में लग जाय तो उसे आत्मा का दर्शन हो सकता है। तात्पर्य यह कि निष्काम कर्म या उपासना से अन्तःकरण शुद्ध हो जाने पर ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है? जो ईश्वर या गुरु में श्रद्धा रखते हैं और उनकी निष्काम-भाव से सेवा करके उनके कृपापात्र हुए हैं वे ही ज्ञान के सच्चे अधिकारी हैं। जिनके मल-विक्षेप निवृत्त हो गये हैं, केवल आवरण मात्र शेष हैं वे कृतोपास्ति ही योगी हैं, उन्हीं को बोध प्राप्त होता है। यह बात अध्याय ४ के श्लोक ३९ में भी कह आये हैं।

परन्तु अध्याय १४ में तो यही सिद्ध किया है कि ज्ञान केवल विचार से ही होता है; उसके लिये कर्म या उपासना की आवश्यकता नहीं है। आजकल लोगों को इसलिये भी ज्ञान नहीं होता कि वे इसके द्वारा कुछ बनाना-बिगाड़ना चाहते हैं। जिनका ऐसा दृष्टिकोण है उन्हें तीनों कालों में कभी ज्ञान नहीं हो सकता। कोई-कोई तो ऐसा प्रश्न करते हैं कि यदि ज्ञान होने पर केवल सत्तामात्र ही रह जाती है तो उससे हमें क्या मिला। वे तो चाहते हैं कि कुछ मिल जाय, किन्तु यहाँ तो जो कुछ है उसको भी खोना पड़ता है। जब तक सबको न खोओगे, कुछ भी पास रख लोगे तब तक ज्ञान नहीं हो सकता। जो लोग ऐसा मानते हैं कि ज्ञान से हमें कुछ नहीं मिला वे बड़ी भूल में हैं। उन्हें इतनी बातें तो प्रत्यक्ष प्राप्त होती हैं —

१. अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की दैवी या आसुरी वस्तुओं का कोई आकर्षण नहीं रहता।
२. दुःख उपस्थित होने पर इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि यह किस प्रकार निवृत्त होगा।



३. वर या शाप की चिन्ता नहीं रहती।

४. सारे प्रपञ्च को मरुमरीचिका जान लेने से उसका आकर्षण निवृत्त

हो गया तथा जीवत्व की निवृत्ति हो गयी।

५. जिन पदार्थों के लिये हम दीन थे और जिन्हें सत्य मानकर प्राप्त

करने के लिये लालायित थे उन्हें मिथ्या निश्चय करके उनके आकर्षण से बच गये।

६. स्वर्ग या नरक की चिन्ता स्वप्न में भी नहीं होती।

७. संसार का अस्तित्व नहीं रहा, अतः उसकी चिन्ता छूट गयी।

८. पाप-पुण्यरूप क्रियाएँ हो जाने पर भी उनका फल नहीं होता।

संगति—आगे चार श्लोकों से भगवान् अपनी सर्वरूपता बतलाते हैं। अहंग्रहोपासकों के लिये ये उनकी उपासना के संकेत भी हैं।

**यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।**

**यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥**

भावार्थ—जो सूर्यान्तर्गत तेज सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा और अपने में है वह मेरा ही तेज समझो।

व्याख्या—सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि में जो तेज है, जो कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, वह मेरा ही है। वह मुझसे भिन्न नहीं है, मेरा ही स्वरूप है—ऐसा जानो। ऐसा भाव होने से साधक को यह चिन्ता नहीं होती कि मैंने यज्ञादि नहीं किये, क्योंकि वह देखता है कि सब कुछ करने वाला तो मैं ही हूँ।

**गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।**

**पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥**

भावार्थ—मैं पृथ्वी में प्रविष्ट होकर अपनी शक्ति से सब प्राणियों को धारण करता हूँ तथा अमृतमय चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण औषधियों का पोषण करता हूँ।

व्याख्या—जिस प्रकार जल और वायु दो वस्तुएँ नहीं हैं, जल को बादल रूप में वायु धारण किये रहता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों को मैं धारण किये हुए हूँ और उनसे तत्त्वतः भिन्न भी नहीं हूँ।



अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥१४॥

भावार्थ— मैं वैश्वानर अग्नि होकर प्राणियों के देह में स्थित हो प्राण और अपान से मिलकर उनके लाये हुए चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ।

व्याख्या—चार प्रकार के अन्न—भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य। अथवा पृथ्वी, जल, तेज और वायु, जो विराट् भगवान् के अन्न हैं। इस प्रकार जड़-चेतन सब मैं ही हूँ।

प्रश्न— जो वस्तु जड़ होती है वह चेतन नहीं हो सकती। अतः यह कैसे सम्भव है कि जड़-चेतन सब मैं ही हूँ?

उत्तर— जैसे नख जड़ (निर्जीव) है, किन्तु वे चेतन (सजीव) शरीर से भिन्न नहीं है, \* उसी प्रकार मैं चराचर जगत् से भिन्न नहीं हूँ। 'सब मैं हूँ' ऐसी भावना करना उपासना है और ऐसा अनुभव करना ज्ञान है। परन्तु ऐसा अनुभव होने पर सब नहीं रहता, 'मैं' ही रह जाता है, इसलिये वह कहेगा किससे।

संगति— उपर्युक्त श्लोक में भगवान् ने अपनी सर्वरूपता दिखलायी है। इसी की पुष्टि अगले श्लोक से करते हैं—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो

वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥१५॥

भावार्थ— मैं सबके हृदय में स्थित हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अज्ञान होते हैं। सम्पूर्ण वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ। मैं ही वेदान्त का उपदेश करने वाला और वेदवेत्ता भी हूँ।

\* इसके लिए दूसरा दृष्टान्त स्वप्न का भी दिया जा सकता है— जैसे स्वप्न में हम सजीव और अजीव दोनों प्रकार के पदार्थ देखते हैं, परन्तु वे स्वप्नद्रष्टा से भिन्न न होने के कारण स्वरूपतः एक ही हैं, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था के सजीव और अजीव पदार्थ परस्पर अभिन्न हैं।



**व्याख्या—** सम्पूर्ण वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ अर्थात् मेरे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिये ही सब वेदों का अध्ययन किया जाता है। अर्थात् मैं ही वेदवेद्य हूँ, मैं ही वेद हूँ, मैं ही वेदोपदेशक हूँ और मैं ही वेदवेत्ता हूँ। 'सब भगवान् हैं' यह प्रतीकोपासना है और 'सब मैं हूँ' यह अहंग्रहोपासना है। इस अहंग्रहोपासना के परिपक्व होने पर ही तत्त्वज्ञान होता है। भगवान् यहाँ अपनी सर्वरूपता दिखला रहे हैं कि प्राणिमात्र के हृदय में मैं ही स्थित हूँ। अतः एक सच्चिदानन्द मात्र ही है। किन्तु ईश्वर और गुरु की कृपा बिना तथा साधनसम्पन्न हुए बिना ऐसा अनुभव हो नहीं सकता।

इस श्लोक के 'अपोहनम्' शब्द का अर्थ कोई टीकाकार 'छिपाना' करते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं। 'अपोहन' का अर्थ अज्ञान ही है। यदि 'छिपाना' अर्थ करें तो अन्य स्थलों की संगति कैसे लगेगी; जैसे—'मत्तः परतरं नान्यत्' (७/७), 'मत्त एवेति तान्विद्धि' (७/१२) 'सदसच्चाहमर्जुन' (९/१९), 'मत्त एव पृथग्विधाः' (१०/५), 'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (१०/८) इत्यादि। जब भगवान् से भिन्न कुछ है ही नहीं तब अज्ञान ही कैसे अलग रहेगा। अतः ज्ञान-अज्ञान सब भगवान् से ही होते हैं।

**संगति—** अब अगले श्लोक में प्रकृति और पुरुष को अलग-अलग करके सत्रहवें श्लोक में निर्विशेष ब्रह्म का वर्णन करेंगे।

**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।**

**क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥**

**भावार्थ—** संसार में क्षर है और अक्षर दो पुरुष हैं। उनमें सम्पूर्ण भूत तो क्षर हैं और कूटस्थ अक्षर कहा जाता है।

**व्याख्या—** यहाँ 'भूतानि' शब्द से पाँचों भूत और उनके कार्य तीनों शरीर समझने चाहिये। ये शरीर भी समष्टि-व्यष्टि सब इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं, क्योंकि भूतानि के साथ 'सर्वाणि' विशेषण



का प्रयोग हुआ है। ये नाशवान् होने के कारण क्षर कहे गये हैं। 'कूटस्थ' शब्द का अर्थ किन्हीं ने माया और किन्हीं ने जीव किया है। प्रसङ्गानुसार इसके जीव ईश्वर, माया और शुद्ध ब्रह्म सभी अर्थ हो सकते हैं। कार्य वर्ग नाशवान् होने के कारण क्षर है तो उनकी कारणभूता माया अविनाशिनी होने के कारण अक्षर है। वह 'कूट'-कपट-रूप से 'स्थ'-स्थित होकर शुद्ध चेतन को ढँक लेती है, इसलिए कूटस्थ है। जीव भी अविनाशी है और पाँचों विकारी कोशों में निर्विकार रूप से स्थित है, इसलिए कूटस्थ कहा जाता है। प्रसङ्ग के अनुसार यहाँ कूटस्थ का जीव अर्थ लेना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि प्रकृति और पुरुष का इस श्लोक में विवेचन करके अगले श्लोक में दोनों से विलक्षण पुरुषोत्तम का उल्लेख हुआ है।

**प्रश्न—** प्रकृति या माया शब्द तो स्त्रीलिंग में है, फिर उनके लिये पुरुष शब्द का प्रयोग क्यों किया है?

**उत्तर—** प्रकृति पुरुष के समान कार्य करती है, इसके आगे परमात्मा की भी कुछ नहीं चलती, उसने उसके स्वरूप को भी ढक लिया है, इसलिये उसके लिये 'पुरुष' शब्द का प्रयोग हुआ है।

**उत्तम पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।**

**यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः॥१७॥**

**भावार्थ—** इन दोनों से भिन्न जो उत्तम पुरुष है वह 'परमात्मा' कहा गया है, जो अविनाशी और ईश्वर (समर्थ) है तथा तीनों लोकों को व्याप्त करके उसका भरण-पोषण करता है।

**व्याख्या—** वह नित्य शुद्ध ब्रह्म है। माया उसका स्पर्श भी नहीं कर सकती। वही सबको सत्ता-स्फूर्ति देने वाला है। जैसे राजा की सत्ता से राज्य-संचालन होता है उसी प्रकार उस परमात्मा की सत्ता से ही विश्व का सब व्यवहार चल रहा है। वह सर्वसाक्षी है। जाग्रदादि अवस्थाओं के बदलते रहने पर भी साक्षी निर्विकार ही रहता है, उसमें



कोई अन्तर नहीं आता। यहाँ 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग शुद्ध ब्रह्म के लिये ही हुआ है, मायाविशिष्ट के लिये नहीं। 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि वह परमात्मा जड़-चेतन दोनों से उत्तम है।

**यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।  
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥१८॥**

**भावार्थ—** क्योंकि मैं क्षर से परे और अक्षर से भी उत्तम हूँ, इसलिये मैं लोक और वेद 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रसिद्ध हूँ।

**व्याख्या—** अक्षर शब्द से जीव या माया ग्रहण किये जाते हैं तथा क्षर से प्रकृति और उसके कार्य। ये सभी नाशवान् और परप्रकाश्य हैं। तथा मैं क्षर से परे और अक्षर से उत्तम हूँ, इसलिये 'पुरुषोत्तम' कहा जाता हूँ। इससे सिद्ध हुआ कि पुरुषोत्तम तत्त्व सबसे बड़ा है, उसकी अपेक्षा क्षर और अक्षर छोटे हैं, क्योंकि जहाँ कोई बड़ा होता है वहाँ छोटे भी होते हैं। वास्तव में तो न कोई बड़ा है न छोटा, सब भगत्वस्वरूप ही हैं। जैसे पत्थर की मूर्ति पत्थर से भिन्न नहीं होती वैसे ही संसार परमात्मा से भिन्न नहीं है।

**प्रश्न—** यदि संसार परमात्मा से भिन्न नहीं है तो सभी परमात्मा को प्राप्त क्यों नहीं कर लेते?

**उत्तर—** परमात्मा को असम्मूढ (विवेकी या बोधवान्) ही प्राप्त कर सकते हैं, स्त्री-पुत्रादि में आसक्ति वाले नहीं। यही बात आगे बतलाते हैं—

**यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।**

**स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥१९॥**

**भावार्थ—** हे भारत! जो असम्मूढ (तत्त्ववेत्ता) मुझे पुरुषोत्तम को इस प्रकार जानता है वह सर्वज्ञ ही सर्वभाव से मुझे भजता है।

**व्याख्या—** जिनकी स्त्री-पुत्रादि में आसक्ति हो वह असम्मूढ होता है। उसके विपरीत जो विवेकी या बोधवान् हो वही असम्मूढ



है। अर्थात् जिसे शब्दादि विषयों से वैराग्य हो, जिसमें अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश न हों तथा जो उपर्युक्त श्लोक १६ और १७ के अनुसार परमात्मा को जानता है कि वह कार्य-कारण दोनों से विलक्षण है। इसी की पुष्टि इस श्रुति से भी होती है—‘एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा’ इत्यादि। अतः जो विवेकी मुझ पुरुषोत्तम को इस प्रकार जानता है वह असम्भूत सर्ववित् है, वह जानता है कि सर्व ब्रह्म है। कार्य-कारण को जानने वाला सर्ववित् नहीं, अपितु जो मुझे सर्वरूप जानता है वह सर्ववित् है, क्योंकि जिसने मुझे जान लिया उसने सब कुछ जान लिया। वह सर्वभाव से अर्थात् ‘सब भगवान् ही है’ ऐसी भावना से मुझे अहेतुकी भक्तिपूर्वक भजता है। तथा मुझे ही प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा वह ऐसा अनुभव करता है कि मैं सबसे भिन्न हूँ, ‘मैं सब हूँ, ‘सब नहीं,’ ‘मैं ही हूँ’ और ‘सबका अत्यन्त भाव है, ‘मैं ही मैं हूँ।’ यही उत्तम अभ्यास है। इसके द्वारा वृत्ति अपनी ओर लौटती है। बोधवान् का यही भजन है।

इस श्लोक में ‘जानाति’ पद ज्ञानपरक है, क्योंकि असम्भूतः सर्ववित् और सर्वभावेन—ये तीन पद बड़े जोरदार हैं।

**इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।**

**एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥**

भावार्थ—हे निष्पाप अर्जुन! मैंने तुम्हें यह सबसे अधिक गोपनीय शास्त्र सुनाया। इसे समझ लेने पर मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है।

व्याख्या—भगवान् ने इस अध्याय को इसलिये शास्त्र कहा है क्योंकि शास्त्रों में जितना बोध का विषय है वह सब इसमें आ गया है। अतः इसका मननपूर्वक नित्य पाठ करने पर अवश्य बोध हो जायगा। इसमें अत्यन्त गोपनीय ज्ञान का वर्णन है, इसलिये इसे



गुह्यतम कहा है। अतः भगवान् कहते हैं कि इसके द्वारा स्वरूप का साक्षात्कार करके तू भी बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जा। फिर तुझे कोई कर्तव्य शेष नहीं रहेगा। जब तक कोई कर्तव्य दिखायी देता है तब तक कोई तत्त्ववेत्ता नहीं हो सकता। कहा भी है—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।  
नैवास्ति किञ्चित् कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥

अर्थात् ज्ञानामृत से तृप्त कृतकृत्य योगी को कोई कर्तव्य नहीं है। यदि कर्तव्य दिखायी देता है तो वह तत्त्ववेत्ता नहीं है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां  
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे  
पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥१५॥





ॐ

श्री परमात्मने नमः  
श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

## अथ षोडशोऽध्यायः

संगति— पन्द्रहवें अध्याय के अन्त में सिद्धान्त बतलाया और कहा कि ऐसा जानकर तू कृतकृत्य हो जा। अब इस अध्याय में कृतकृत्य होने का उपाय बतलाते हैं। हमारे आचार्यों का नियम है कि पहले सिद्धान्त (फल) बताकर फिर साधन का वर्णन करते हैं। व्यवहार में भी यही बात देखने में आती है ठेकेदार लाभ का अनुमान लगाकर ही कार्य आरम्भ करते हैं। पन्द्रहवें अध्याय में पुरुषोत्तम का स्वरूप बतलाया गया। इस अध्याय में पहले तीन श्लोकों में दैवी सम्पत्ति का वर्णन किया जाता है, क्योंकि चाहे कर्मकाण्डी हो या जिज्ञासु, दैवी सम्पत्ति के बिना कोई भी पुरुषोत्तम की प्राप्ति नहीं कर सकता।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥१॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशनुम्।

दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं हीरचापलम्॥२॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।

भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥३॥

भावार्थ—निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञानयोग में स्थिति, दान, इन्द्रियनिग्रह, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, चुगली न करना, प्राणियों पर दया, अलोलुपता, मृदुता, लज्जा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, अद्रोह और निरभिमानिता—हे भरतनन्दन! दैवी सम्पद् में उत्पन्न हुए पुरुष में ये सब गुण होते हैं।

व्याख्या— यहाँ सबसे पहले 'अभय' कहा गया है। जब तक भय रहेगा तब तक ईश्वर या आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। संसार



में भक्त या ज्ञानी दो ही निर्भय होते हैं। जैसे मीरा, प्रह्लाद, नरसी आदि भक्त और जड़भरत आदि ज्ञानी। जड़भरत को बलि चढ़ाने ले गये, परन्तु उन्हें कोई भय नहीं हुआ। प्रह्लाद को अग्नि में जलाया और अनेकों कष्ट दिये, परन्तु वे निर्भय रहे। ये लोग असह्य कष्ट आने पर भी अपनी निष्ठा से विचलित नहीं हुए। ये निन्दा-स्तुति में समान रहते हैं, इसलिये भी इन्हें भय नहीं होता। विरक्त-पुरुषों को संसारी लोगों से इसलिये भी भय नहीं होता, क्योंकि वे सब प्रकार का परिग्रह त्यागकर एकान्त में रहते हैं। भय तो परिग्रही या पापी लोगों को होता है।

**सत्त्वसंशुद्धि**—अन्तःकरण की शुद्धि। ज्ञानयोग में स्थिति अर्थात् अध्यात्म-शास्त्रों का पठन-पाठन एवं परस्पर अध्यात्म-चर्चा करना। ज्ञान-विचार और योग-एकाग्रता ये दोनों ही होने चाहिये।

**दान**—जो अपने पूज्य पुरुषों को दिया जाय। भूखे और कंगालों को देना दान नहीं, दया है। भक्त और ज्ञानी दोनों में ही दान की प्रवृत्ति होती है। भक्त शुभ कर्मों में द्रव्यादि लगाता है और विचारवान् (विरक्त) सबका बाध करता है—यही उसका दान है। भक्त और ज्ञानी दोनों ही दानी होते हैं, क्योंकि भक्त भी सर्वत्याग करता है और ज्ञानी सबको मरुमरीचिका के समान समझता है।

**दम**—इन्द्रियों को वश में रखना। यज्ञ—जो बारह प्रकार के यज्ञ चतुर्थ अध्याय में कहे हैं। स्वाध्याय—अपने इष्टमन्त्र या शास्त्र का नियमपूर्वक पारायण करना। तप—सत्रहवें वृत्ति या आत्माकार वृत्ति ही है। आर्जव—सरलता! ऐसी सरलता हो कि जो मन में हो वही वाणी में हो और वही आचरण में भी हो। छल-कपट तनिक भी न हो।

**अहिंसा**—स्वार्थ त्याग अर्थात् मन वाणी या शरीर से किसी को कोई कष्ट न देना। वाणी मनुष्य की बहुत बड़ी निधि है। इसके दूषित होने से मन और वीर्य भी दूषित हो जाते हैं, जिससे ब्रह्मचर्यादि तप में भी बाधा पड़ती है और आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो पाती। अतः वाणी के दोष से बचना बहुत आवश्यक है।



सत्य—देखे-सुने को ज्यों का त्यों कह देना सत्य है। उसे कुछ भी घटावे-बढ़ावे नहीं। सत्य ही भगवान् है। इस सत्यरूप भगवान् की प्राप्ति सत्यभाषण से ही होती। इसकी गणना जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पाँच धर्म हैं उनमें भी है। वे पाँच धर्म ये हैं—(१) सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं। (२) मौन से बढ़कर कोई तप नहीं। (३) जप से बढ़कर कोई यज्ञ नहीं। (४) विचार से बढ़कर कोई ज्ञान नहीं। (५) त्याग से बढ़कर कोई सुख नहीं।

क्रोध—अपने विपरीत कोई बात सुनकर जो उत्तेजना होती है उसे क्रोध कहते हैं। यह साधक का अपना बनाया हुआ शत्रु है। इससे जितनी क्षति उसकी होती है, उतनी उसकी नहीं होती जिस पर क्रोध किया जाता है। यदि अपने अपराधी पर क्रोध करना ही है तो क्रोध पर ही क्रोध करना चाहिये—‘अपराधिनि कोपश्चेत् कोपे कोपो कथम् न ते।’

त्याग—सर्वत्र उपरति होना अथवा श्रौत-स्मार्त्त आदि कर्मों का फल ईश्वरार्पण-बुद्धि से त्याग देना इससे चित्त में शान्ति और प्रसन्नता रहती है। शान्ति-प्राप्ति के चार साधन हैं—क्षमा, दान, सत्य और अहिंसा। गीता में अन्य चार प्रकार से भी शान्ति की प्राप्ति बतलायी है; यथा—

१. कर्म-फल त्याग से—‘युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्ति-माप्नोति नैष्ठिकीम्।’ (५/१२)

२. उपासना से—‘क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।’ (९/३१)

३. ज्ञान से—‘ज्ञानं लब्ध्वां परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।’ (४/३९)

४. ज्ञान निष्ठा से—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।  
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ (६/१५)



**प्रश्न—** 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इस वाक्य के अनुसार शान्ति तो ज्ञान होने पर ही जाती है, फिर ज्ञाननिष्ठा से और कैसी शान्ति मिलती है?

**उत्तर—** ज्ञाननिष्ठा से जो शान्ति मिलती है वह चित्त की ही उपरति है। उसे निवृत्ति का सुख भी कह सकते हैं। वह वास्तविक शान्ति नहीं है। सच्ची शान्ति तो ज्ञान होने पर हो चुकी।

**प्रश्न—** क्या आत्मनिष्ठा और जीवन्मुक्ति का सुख एक ही बात है?

**उत्तर—** नहीं, दोनों भिन्न हैं। आत्मनिष्ठा तो गृहस्थ और विरक्त दोनों को हो सकती है, परन्तु जीवन्मुक्ति का सुख केवल विरक्त को ही होता है।

**प्रश्न—** आप कहते हैं कि आत्मनिष्ठा गृहस्थ और विरक्त दोनों को हो सकती है, परन्तु भगवान् भाष्यकार तो 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इत्यादि श्लोक के भाष्य में आत्मनिष्ठा के लिये चतुर्थाश्रम का ग्रहण करने का विधान करते हैं।

**उत्तर—** भाई! आत्मनिष्ठा तो दोनों को हो सकती है, परन्तु भाष्यकार ने ऐसा विधान इसलिए किया है कि ज्ञान होने पर वैराग्य ढीला पड़ जाता है। वैराग्य तो रहता है, परन्तु उत्कट वैराग्य नहीं रहता। वैराग्य की जो नशे की-सी लहरें उठती हैं वे नहीं रहती। इसलिये प्राचीन ऋषियों ने विरक्ति पर जोर डाला है और इसीलिये गृहस्थ को वेदान्त-श्रवण का निषेध करते हुए ऐसी व्यवस्था की है कि संन्यास लेकर ही वेदान्त श्रवण करे।

**अपैशुन—** किसी व्यक्ति की अनुपस्थिति में उसके दोष बतलाना पैशुन या चुगली है। यह दोष न होना अपैशुन है। चुगली करने से बड़े भीषण परिणाम निकलते हैं। गोसाँई तुलसीदासजी कहते हैं—'परनिन्दा सम अध न गिरिन्दा।' ईसामसीह ने तो इसका बहुत तिरस्कार किया है। किसी गाँव में वर्षा न होने पर उन्होंने उसका कारण वहाँ एक चुगलखोर की उपस्थिति बतलायी थी। जब उनसे उसका



नाम पूछा तो उन्होंने कहा कि यदि मैं उसका नाम बतला दूँ तो मैं भी चुगलखोर हो जाऊँगा। सारांश यह कि इस अवगुण को किसी प्रकार अपने में न आने दें।

**दया**—प्राणियों के अवगुणों को छुड़ाने का प्रयत्न करना अर्थात् सबका कल्याण चाहना ही सच्ची दया है।

**अलोलुपता**—जो मिल जाय उसी में सन्तुष्ट रहे। विषयों की सन्निधि में भी उन्हें पाने का लोभ न हो।

**मार्दव**—मृदुलता, कठोर शब्द या कठोर वाणी न होना। अथवा दृष्टि, वाणी या व्यवहार सभी में मधुर होना।

**लज्जा**—शास्त्रविरुद्ध कर्म करने में सङ्कोच होना। ऐसा सङ्कोच पापाचरण से बचा लेता है। इसी से लज्जा कुल स्त्री का आभूषण कही गई है।

**अचापल**—अचपलता या व्यर्थ चेष्टा का अभाव। मन, वाणी और शरीर की चञ्चलता दूर हुए बिना शान्ति, ममता, ज्ञान, भक्ति कुछ भी नहीं हो सकते। इसलिये यति के लिये कहा है—

**न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो यतिः।**

**न च वाक्चपलश्चैवमिति शिष्टस्य लक्षणम्॥**

अर्थात् यति को हाथ पैर नेत्र और वाणी की चपलता से शून्य होना चाहिये। यही शिष्ट पुरुष का लक्षण है।

**तेज**—खाने-पीने से सुन्दर स्वास्थ्य होना तेज नहीं है, अपितु अपनी प्रतिज्ञा और नियमों में दृढ़ निष्ठा होना ही तेज है। अथवा चरित्र या बुद्धि का बल तेज कहा जाता है। यह ऐसी दिव्यशक्ति है जिसके कारण सभी प्रेम और आदर करते हैं। यह बुद्धि का बल है जो अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य का पालन करने से बढ़ता है।

**क्षमा**—दूसरे का अपराध से क्षुभित न होना अथवा सहनशीलता। क्षमाशील सबको अपने अधीन कर लेता है।

**धृति**—धैर्य या धारण शक्ति, जिससे देह, इन्द्रिय मन और प्राण अपने अधीन रहते हैं। वास्तव में तो जिसने उपस्थ और रसनेन्द्रिय



को वश में कर लिया है वही धृतिमान् है। ज्ञानेन्द्रियों में नेत्र और कर्मेन्द्रियों में वाणी प्रबल है, इन्हें वश में करने का सामर्थ्य धीर पुरुष में ही होता है।

**शौच**— बाह्य और आन्तरिक पवित्रता। बाह्य पवित्रता जल और मृत्तिका आदि से होती है तथा आन्तरिक पवित्रता के लिए राग-द्वेष का त्याग प्रधान साधन है। मिथ्या भाषण के त्याग से मुख की शुद्धि होती है, परान्न त्याग से रसना की, प्रतिग्रह के त्याग से हाथों की, शास्त्रविहित ब्रह्मचर्य के पालन से कक्ष की, धर्मानुकूल धनोपार्जन से धन की और शास्त्रानुकूल आचरण से कर्म की शुद्धि होती है।

**अद्रोह**— किसी के प्रति शत्रुता न रखना। अपना अनिष्ट करने वाले के प्रति भी प्रतीकार की भावना न रखकर उसके लिए भगवान् से दया और बुद्धि-शुद्धि की प्रार्थना करना।

**नातिमानिता**— बड़प्पन के अभिमान से रहित होना। ऊँचा आसन प्राप्त होने की इच्छा न रखना।

ये दैवी सम्पद् के लक्षण किन्हीं में जन्म से ही होते हैं। उन्हें इनका अभ्यास नहीं करना पड़ता। जिनमें ये लक्षण होते हैं वे ही भगवान् का यथार्थ भजन कर सकते हैं। जैसा कि भगवान् ने अध्याय ९ श्लोक १३ में कहा है—

**महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।**

**भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥**

यहाँ भगवान् ने जो दैवी सम्पत्ति बतलायी है वह अर्जुन को यह दिखलाने के लिये है कि तू भी जन्म से ही दैवी सम्पत् सम्पन्न है, इसलिये तुझे अधीर नहीं होना चाहिये, तेरा अवश्य कल्याण होगा।

**प्रश्न**— दैवी सम्पत्तिवान् पुरुष से सब क्यों प्रसन्न रहते हैं?

**उत्तर**— आत्मा काम-क्रोधादि विकारों से रहित है। दैवी

सम्पत्तिवान् पुरुष में आत्मा के लक्षण आ जाते हैं, और आत्मा सबको प्रिय है, इसलिये स्वस्वरूपभूत होने के कारण वे सबको प्रिय लगते हैं।



**प्रश्न—**क्या बोध होने पर भी दैवी सम्पत्तिवान् होना आवश्यक है?

**उत्तर—**यद्यपि ज्ञानी के लिये शास्त्र का कोई शासन नहीं है, तथापि यह तो नियम ही है कि बोध की प्राप्ति अन्तःकरण शुद्ध होने पर ही होती है। चित्तशुद्धि बिना निष्काम कर्म के नहीं होती और निष्काम कर्म दैवी सम्पत्तिवान् ही कर सकता है। इसलिये दैवी सम्पत्ति तो उसका स्वभाव ही बन जाता है।

**प्रश्न—**आपने जो कहा वह तो ठीक है, परन्तु ऐसा देखा गया है कि दुर्वासा आदि में आसुर भाव था तथा असुरों में भी कोई-कोई ज्ञानी हो गये हैं।

**उत्तर—**दुर्वासा आदि तो कारक पुरुष थे। उनका क्रोध तो लीला मात्र था। तथा असुरों में ज्ञानी हुए हैं वे जन्म से ही असुर थे, स्वभाव से नहीं। फिर भी ये अपवादमात्र ही समझने चाहिये। इन्हें आदर्श नहीं कह सकते। आदर्श तो ऋभु, निदाघ, वशिष्ठ और वामदेव आदि ही हैं। मेरा तो यही सिद्धान्त है कि तत्त्ववेत्ता में दैवी सम्पत्ति अवश्य होनी चाहिये, जैसा कि कहा है—

अक्रोधवैराग्यजितेन्द्रियत्वं क्षमादयासर्वजनप्रियत्वम्।

निर्लोभदानं भयशोकहानं ज्ञानस्य चिह्नं दशलक्षणानि॥

अर्थात् अक्रोध, वैराग्य, जितेन्द्रियता, क्षमा, दया, सर्वप्रियता, लोभहीनता, दान, निर्भयता और निःशोकता— ये दश लक्षण ज्ञान के चिह्न हैं।

यों तो बोधवान् की दृष्टि में चराचर जगत की सत्ता नहीं रहती फिर दैवी सम्पद् कहाँ रहेगी। परन्तु वास्तव में यह भी उसी में और उसी की तो है, इसलिये उसका स्वभाव ही है।

**संगति—**अब अगले श्लोकों में आसुरी सम्पत्ति वालों के लक्षण बताते हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।

अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥४॥



**भावार्थ**—हे पार्थ! आसुरी सम्पत्ति में जन्म लेने वाले पुरुष में दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान रहते हैं।

**व्याख्या**—दम्भ—दूसरों के सामने अपने जप-ध्यानादि को प्रकट करना दम्भ है। अर्थात् कुछ बनना ही दम्भ है।

**दर्प**—दूसरों को तुच्छ समझना, सबका निरादर करना, दयालुता न होना दर्प है।

**अभिमान**—विद्या, बुद्धि, बल, रूप आदि में अपने को सब से बड़ा मानना अभिमान है।

**क्रोध**—जो स्वार्थसिद्धि में बाधक हो उससे बदला लेने की भावना क्रोध है। वह इतनी उग्र हो जाती है कि बदला लेकर ही चैन पड़ता है। इसके लिये अनेकों अवगुणों का आश्रय लेना पड़ता है।

**पारुष्य**—कठोर या निष्ठुर भाषण पारुष्य है।

**अज्ञान**—सत्-असत्-विचारशून्य अर्थात् हानि-लाभ की परवाह न करते हुए मनमाना आचरण करना अज्ञान है।

ये सब आसुरी सम्पत्ति लेकर उत्पन्न हुए पुरुषों के लक्षण हैं।

**संगति**—यहाँ तक दोनों प्रकार की सम्पत्तिवालों के लक्षण बतलाकर अब इनका प्रभाव बतलाते हैं —

**दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।**

**मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥५॥**

**भावार्थ**—दैवी सम्पत्ति मुक्ति की हेतु है और आसुरी सम्पत्ति बन्धन करने वाली मानी गयी है। हे पाण्डुपुत्र! तू शोक न कर, क्योंकि तू दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न उत्पन्न हुआ है।

**व्याख्या**—जो दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न है वही ध्यानादि कर सकता है, इसलिये उसे मुक्ति का साधन बतलाया है।

**संगति**—दोनों संपत्तियों का उल्लेख करके अब आसुरी सम्पत्ति का विशेष रूप से वर्णन करते हैं —

**द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।**

**दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥६॥**



भावार्थ—हे पार्थ! इस लोक में दैव और आसुर दो प्रकार के प्राणियों की सृष्टि है। उनमें दैवी सृष्टि का तो विस्तार से वर्णन किया। अब आसुरी सृष्टि का वर्णन सुनो।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।  
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

भावार्थ—आसुरी सम्पत्ति वाले प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही को नहीं जानते। तथा उनमें पवित्रता, आचार और सत्य भी नहीं होते।

व्याख्या—जो करना चाहिये उसे प्रवृत्ति कहते हैं और जो नहीं करना चाहिये उसे निवृत्ति कहते हैं। आसुरी सम्पत्ति वालों को इन दोनों का ज्ञान नहीं होता। शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति दैवी सम्पत्ति है और शास्त्रप्रतिकूल प्रवृत्ति आसुरी सम्पत्ति। धर्माधर्म का विवेक न होने के कारण उनमें शौच (पवित्रता) भी नहीं होता। 'च' शब्द से तात्पर्य है कि उनमें दया आदि सद्गुण भी नहीं होते। तथा उनमें धर्मानुकूल आचरण और सत्यभाषण भी नहीं पाये जाते। वे असत्य प्रधान होते हैं।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।  
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

भावार्थ—वे संसार को झूठा, निराधार और ईश्वरशून्य बताते हैं और कहते हैं कि यह परस्पर संयोग से उत्पन्न हुआ है तथा भोगार्थ होने के सिवा और क्या है, अर्थात् कुछ नहीं है।

व्याख्या—वे स्वयं झूठे होते हैं इसलिये सबको झूठा मानते हैं। ईश्वर की सत्ता या अनुशासन कुछ नहीं मानते और भोग को ही परम पुरुषार्थ समझते हैं।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।  
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

भावार्थ—इस दृष्टि का आश्रय लेकर जिनका अन्तःकरण दूषित हो गया है वे मन्दमति अहितकारी उग्रकर्मा पुरुष संसार के नाश के निमित्त ही बनते हैं।



व्याख्या—ये लोग ऐसे-ऐसे क्रूरकर्म करते हैं जिनसे संसार को हानि ही पहुँचती है। कहीं आग लगा देना, किसी की हत्या कर देना, दूसरों के अभियोग (मुकदमे) लेकर लड़ना—यही उनके नित्यकृत्य होते हैं।  
**काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।**  
**मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥१०॥**

भावार्थ—जिसकी कभी पूर्ति नहीं होती ऐसे काम का आश्रय लेकर दम्भ, मान और मद से युक्त हुए अपवित्र संकल्पों वाले वे मूढ़ मोहवश असम् आग्रहों को पकड़ कर प्रवृत्त होते हैं। (अर्थात् उनका ऐसे कार्यों में ही आग्रह रहता है जिनसे सबको हानि ही हो। वे न स्वयं चैन से रहते हैं, न दूसरों को रहने देते हैं।)

**चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।**

**कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥११॥**

भावार्थ—वे मरणपर्यन्त अपरिमित चिन्ताओं को भोगते रहते हैं। विषयोपभोग ही सबसे बढ़कर है—ऐसा उनका निश्चय होता है।

**आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।**

**ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥१२॥**

भावार्थ—वे सैकड़ों आशा-पाशों से बँधे रहते हैं, काम-क्रोध में तत्पर रहते हैं तथा विषयोपभोग के लिए अन्याय से अर्थसञ्चय करने का प्रयत्न करते रहते हैं।

**इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।**

**इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥१३॥**

भावार्थ—(वे सोचते रहते हैं कि) मुझे यह वस्तु तो आज मिल गयी, अब इस कामना की भी पूर्ति हो जायगी। मेरे पास यह सम्पत्ति तो है, फिर यह धन भी प्राप्त हो ही जायगा।

**असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।**

**ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥१४॥**



भावार्थ—मैंने इस शत्रु को तो मार डाला, अब दूसरों को भी समाप्त कर दूँगा। मैं बड़ा ईश्वर (समर्थ) हूँ, भोगी हूँ, सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ और सुखी हूँ।

व्याख्या—प्रश्न—‘मैं ईश्वर हूँ’ क्या यह भी आसुरी सम्पद् का लक्षण है। तब तो अहंग्रहोपासना भी आसुरी मानी जायगी।

उत्तर—ईश्वरपने का परिच्छिन्न-अभिमान दुःखदायी है और आसुरी सम्पत्ति है, किन्तु अपरिच्छिन्न-अभिमान तो संसार से छुड़ाने वाला है।

आदूयोऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।

यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥१५॥

भावार्थ—मैं बड़ा सम्पन्न हूँ, बड़ा कुटुम्बी हूँ, मेरे समान और है कौन? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और खुशी मनाऊँगा इस प्रकार के अज्ञान से वे मोहित रहते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥१६॥

भावार्थ—जिनका चित्त अनेक प्रकार से भ्रमित है, जो मोह-पाश में जकड़े हुए हैं तथा काम-भोगों में आसक्त हैं ऐसे ये आसुरी सम्पद वाले अपवित्र नरकों में गिरते हैं।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।

यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥१७॥

भावार्थ—अपने को ही सर्वश्रेष्ठ समझने वाले, अविनीत तथा धन के मद से भरे हुए ये लोग दम्भपूर्वक विधिविहीन नाममात्र के यज्ञों का आयोजन करते हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥१८॥

भावार्थ—वे अहंकार (अनात्मा में आत्मबुद्धि) बल, घमण्ड, काम, क्रोध का आश्रय लिये दूसरों की निन्दा करने वाले अपने और



दूसरों के देहों में विद्यमान मुझसे ही द्वेष करने वाले हैं। 'च' से यहाँ लोभादि समझने चाहिए।

तानहं द्विषतः क्रूरान संसारेषु नराधमान्।  
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥१९॥

भावार्थ—अपने से द्वेष करने वाले उन क्रूर नराधमों को मैं संसार में बार-बार पाप योनियों में ही पटकता हूँ।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।  
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥२०॥

भावार्थ—हे कुन्तिनन्दन! जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त हुए वे मूढ़ मुझे प्राप्त न होकर उससे भी अधम गति को प्राप्त होते रहते हैं।

व्याख्या—भगवान् ने सातवें अध्याय के १४ वें श्लोक में कहा है—“मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते” अर्थात् जो मेरी शरण लेते हैं वे इस माया को पार कर जाते हैं। और यहाँ अपने से द्वेष करने वालों को जन्म-जन्म में अधमाधम योनियों की प्राप्ति बतला रहे हैं। इससे यही निश्चय होता है कि बिना भगवद्भजन के कल्याण नहीं होता।

प्रश्न—दैवी सम्पत्ति के वर्णन के पश्चात् आसुरी सम्पत्ति बतलाने की क्या आवश्यकता थी?

उत्तर—यदि आसुरी सम्पत्ति और उसके दोष न बतलाते तो उसका त्याग कैसे होता? दुर्गुण को जानकर ही तो त्याग जा सकता है।

संगति—यहाँ तक आसुरी सम्पत्ति बतलाकर अब अगले श्लोक में भगवत्प्राप्ति के बाधक मुख्य दोष बतलाते हैं—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।  
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥२१॥

भावार्थ—काम, क्रोध और लोभ—ये आत्मा का नाश करने वाले नरक के तीन प्रकार के द्वार हैं। अतः इन तीनों का त्याग करें।



व्याख्या—प्रश्न—जीवात्मा के नरक के द्वारों के समान क्या उसकी मुक्ति के भी तीन द्वार हैं?

उत्तर—सम, सन्तोष और सत्संग—ये जीव की मुक्ति के द्वार हैं। सम (कारण दृष्टि रखना), सन्तोष (स्वतः प्राप्त से अधिक की इच्छा न करना) और सत्संग (सत्पुरुषों का साथ करना) इन तीनों के द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होकर जिज्ञासा होगी और फिर तत्त्वज्ञान द्वारा कल्याण हो जायगा।

प्रश्न—काम, क्रोध और लोभ का त्याग किस प्रकार करे?

उत्तर—काम की निवृत्ति तो आत्मप्राप्ति की कामना से अथवा स्वरूपाकार वृत्ति से होती है। क्रोध की निवृत्ति 'मैं शरीर हूँ' यह मिथ्या ज्ञान नष्ट होने से होती है और मिथ्या ज्ञान सत्संग से निवृत्त होता है। तथा लोभ निवृत्ति वैराग्य अथवा आत्मरति से होती है। किन्तु आत्मरति से तो तीनों ही की निवृत्ति हो जाती है। वास्तव में तो आत्मप्राप्ति की कामना और सत्संग साधन हैं। तथा आत्मरति साध्य है।

प्रश्न—मद, मत्सर और मोह की निवृत्ति कैसे होती है?

उत्तर—मद की निवृत्ति भिक्षावृत्ति से होती है, मत्सर की सबमें भगवद्भावना करने से और मोह की एकान्त सेवन से। क्रोध इन सबमें बुरा है।

संगति—अगले श्लोक में कामादि के त्याग का फल बतलाते हैं—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।

आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥२२॥

भावार्थ—हे कौन्तेय! अज्ञान के द्वारा इन तीनों दोषों से मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याण के लिए आचरण करता है और उससे परमगति प्राप्त कर लेता है।

संगति—अब स्वेच्छाचारी की गति बतलाते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥२३॥



**भावार्थ**—जो शास्त्रविधि को त्यागकर मनमाना व्यवहार करता है वह सफलता प्राप्त नहीं कर सकता और न सुख या परमगति ही प्राप्त कर सकता है।

**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।  
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुं मिहार्हसि॥२४॥**

**भावार्थ**—अतः कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में तुम्हारे लिए शास्त्र ही प्रमाण है। तुम शास्त्रविधि से बतलाये हुए कर्म को जानकर ही इस लोक में कर्म करो।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां  
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे  
दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः॥१६॥





ॐ

श्री परमात्मने नमः  
श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

## अथ सप्तदशोऽध्यायः

संगति— पिछले अध्याय में भगवान् ने कहा है कि जो शास्त्र विधि को त्यागकर मनमाना व्यवहार करता है उसे न तो सफलता प्राप्त होती है और न सुख या परमगति ही मिलती है। इसपर अर्जुन को यह जानने की इच्छा हुई कि जो अनपढ़ हैं और शास्त्रविधि से अनभिज्ञ हैं, किन्तु श्रद्धालु हैं उनकी क्या गति होती है। अतः वे पूछते हैं—

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।  
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥१॥

भावार्थ— अर्जुन बोला—श्रीकृष्ण! जो लोग शास्त्रविधि को त्यागकर श्रद्धापूर्वक यज्ञादि करते हैं उनकी स्थिति सत्त्व, रज अथवा तम किसमें होती है?

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।  
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥२॥

भावार्थ— प्राणियों की वह स्वाभाविकी श्रद्धा तीन प्रकार की होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। उसके विषय में सुनो।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।  
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥३॥

भावार्थ—हे भारत! सभी प्राणियों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुसार होती है। यह पुरुष श्रद्धामय (श्रद्धास्वरूप) है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह वही हो जाता है।

व्याख्या— श्रद्धा से यहाँ चिन्तन या ध्यान अभिप्रेत है। जो जैसा चिन्तन करता है वैसा ही हो जाता है। भाव का कारण श्रद्धा है।



श्रद्धा, भक्ति, प्रेम ये एक ही हैं। पहले श्रद्धा होती है। उसकी परिपक्व अवस्था भक्ति है और भक्ति की सिद्धावस्था प्रेम है।

यजन्ते सात्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।  
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥४॥

भावार्थ—सात्विक श्रद्धा वाले देवताओं का भजन करते हैं, राजस लोग यक्ष-राक्षसों का और तामसी पुरुष प्रेत एवं भूतों की पूजा करते हैं।

व्याख्या—इन पूजकों के अतिरिक्त साधकों की और भी तीन श्रेणियाँ हैं। जो आत्मरति में लगे हैं वे सात्विक हैं, जो सिद्धियों की इच्छा करते हैं वे राजस हैं और जो यह मानकर कि हमें तो अब ज्ञान हो गया, हमारा कोई कर्तव्य शेष नहीं है पड़े रहते हैं, वे तमोगुणी हैं। सत्संग-पाठ आदि सात्विक साधन हैं, इहलोक या परलोक के सुख की इच्छा से यज्ञादि करना राजस है और मारण-उच्चाटनादि तामस साधन हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।  
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥५॥  
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।  
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥६॥

भावार्थ—जो मूर्ख लोग दम्भ और अहंकार से युक्त हो तथा काम और राग के बशीभूत हो अपने शरीर में स्थित भूतसमुदाय और अन्तःकरण में स्थित मुझे पीड़ित करते हुए अशास्त्रविहित घोर तप करते हैं, उन्हें तुम आसुरी निश्चय वाले जानो।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।  
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥७॥

भावार्थ—आहार भी सबको तीन प्रकार का प्रिय होता है। इसी प्रकार यज्ञ, तप और दान के विषय में समझो। उनके ये भेद सुनो।



आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।  
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः॥८॥

भावार्थ—आयु, सत्त्व (बुद्धि का बल), बल (शारीरिक शक्ति), आरोग्य, सुख और प्रसन्नता की वृद्धि करने वाले, सरस, चिकने, स्थिर (शरीर में ठहरने वाले) और हृदय को प्रिय लगने वाले पदार्थ सात्विक लोगों को प्रिय होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥९॥

भावार्थ—अति कड़वा, अति खट्टा, अति नमकीन, अति उष्ण, अति चरपरा, अति रूखा और अति दाहक पदार्थ राजसिक पुरुषों को प्रिय होते हैं, जो कि दुःख, शोक और रोगों को ही देने वाले होते हैं। [सबकी 'अति' के कारण धातु क्षीण हो जाती है और इसलिए वे दुःखदायी ही होते हैं।]

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥१०॥

भावार्थ—अधपका, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी और जो उच्छिष्ट (जूठा) तथा अपवित्र हो वह भोजन तामसी लोगों को प्रिय होता है।

व्याख्या—यातयाम—जिस भोजन को पके एक पहर बीत गया हो। परन्तु जो दुर्गन्धयुक्त न हो अथवा घृतपक्व (पकवान) हो वह यातयाम नहीं होता। चावल, रोटी, दाल एक पहर बीत जाने पर तथा जो आधा सिका हो वह पदार्थ यातयाम कहे जाते हैं। इन्हें नहीं खाना चाहिए। अमेध्य—बुद्धि को बिगाड़ने वाले मद्य-मांसादि। अथवा जो स्वयं अच्छा खाय परन्तु दूसरों को गला-सड़ा खिलाये या दूसरों से छिपाकर भोजन करे वह भी अमेध्य-भोजी है। किन्तु यदि दूसरों को अच्छा खिलाये और स्वयं रूखा-सूखा खाय तो वह बुद्धिवर्द्धक होता है।

संगति—अब तीन श्लोकों में तीन प्रकार के यज्ञ बतलाते हैं—



अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।  
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः॥११॥

भावार्थ— फल की इच्छा न करने वाले पुरुषों के द्वारा यज्ञ करना कर्तव्य है—ऐसा निश्चय करके जो शास्त्रविधि से किया जाय वह यज्ञ सात्विक है।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।  
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम॥१२॥

भावार्थ— हे भरतश्रेष्ठ! जो यज्ञ फल की इच्छा रखकर और जो दम्भ (दिखावे) के लिए किया जाता है, उसे तुम रजोगुणी समझो।

विधिहीनमसृष्टान्न मन्त्रहीनमदक्षिणम्।  
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥१३॥

भावार्थ— जो विधिहीन, अन्नदान से रहित, मन्त्रहीन, दक्षिणाशून्य और श्रद्धारहित हो वह यज्ञ तमोगुणी कहा जाता है।

संगति—अब शारीरिक तप बतलाते हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।  
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥१४॥

भावार्थ—देवता, ब्राह्मण, गुरु और तत्त्वज्ञ का पूजन [बाह्य और आन्तर] पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शारीरिक तप कहा जाता है।

व्याख्या—यहाँ पूजन के साथ शौच और आर्जव का सम्बन्ध है। तात्पर्य यह कि पूजन भाव से करना चाहिये, दिखावटी न हो। भाव की पवित्रता हो और सरलता भी हो। जो मन में हो वही बाहर प्रकट हो। मृत्तिका आदि से बाह्य शुद्धि और राग-द्वेष के त्याग से आन्तर शुद्धि की जाय। इस प्रकार दम्भ रहित होकर पवित्रतापूर्वक पूजा करो।

ब्रह्मचर्य का पालन करने में इसलिए सफलता नहीं मिलती क्योंकि हम केवल शरीर से ही इसका पालन करना चाहते हैं, मन से नहीं। अतः हमको प्रयत्नपूर्वक मन, वाणी और कर्म से ब्रह्मचर्य का



पालन करना चाहिए। साधारणतया तो जो आठ प्रकार के मैथुन से बचे हुए हैं वे ब्रह्मचारी कहे जाते हैं। किन्तु मेरे विचार से तो संसार में सच्चा ब्रह्मचारी मिलना कठिन है। सच्चा ब्रह्मचारी तो वह है जो सब प्रकार के सौन्दर्य से दूर रहता है। यहाँ तक कि उपरति, भगवदाकार वृत्ति आदि भी एक प्रकार की आसक्तियाँ ही हैं और सब स्त्रीलिंग भी हैं। जो इन सबसे भी परे है वही सच्चा ब्रह्मचारी है। अर्थात् जिसे यह दृढ़ अपरोक्ष अनुभव है कि ब्रह्म के सिवा और कुछ है ही नहीं वस्तुतः वही ब्रह्मचारी है।

**प्रश्न—** आठ प्रकार के मैथुन कौन-कौन हैं?

**उत्तर—** भगवान् मनु कहते हैं—

दर्शनं स्पर्शनं केलि रहस्यं गुह्यभाषणम्।  
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥  
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।

अर्थात् परस्त्री को देखना, उसे स्पर्श करना, उसके साथ ताश-चौपड़ आदि खेलना, एकान्त में मिलना और बात करना, संकल्प करना, सहवास का निश्चय करना और सहवास करना—ये मैथुन के आठ अंग विद्वान् बतलाते हैं।

**प्रश्न—** ब्रह्मचर्य रखने से क्या लाभ हैं? क्या बुद्धि बढ़ाने के लिये ब्रह्मचर्य से रहा जाता है?

**उत्तर—** कारण का भोक्ता कार्य होता है। जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है उसी को खाती है। जैसे अन्न से शरीर की उत्पत्ति होती है तो उसी को शरीर खाता है। नेत्रेन्द्रिय तेज से उत्पन्न हुई है और तेज के गुण रूप को ही भोगती है। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों को समझना चाहिये।

ब्रह्मचर्य से बुद्धि बढ़ती है—यह बात तो गौण है। मुख्य बात यह है कि जितने स्त्री-पुरुष हैं उनके प्राणों का भोग रूप हैं। स्त्री के प्राणों का भोग पुरुष का रूप है और पुरुष के प्राणों का भोग स्त्री का



रूप है। निर्गुण उपासना का भोग प्राण है क्योंकि निर्गुण उपासना में प्राण निःशेष हो जाता है। निर्गुण उपासना जीव करता है, इसलिए प्राणों का भोक्ता जीव है। पहले लोग प्राणों को ही भोगते थे, फिर रूप और शब्द को भोगने लगे। अब इतने स्थूल हो गये कि अन्न खाने तक हमें रूप और रस मिलेंगे तब तक हम ब्रह्मचर्य से नहीं रह सकते। और बिना ब्रह्मचर्य के चित्त भगवान् में नहीं लगेगा। इसीलिये मुख्यतया ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है। परन्तु भगवान् के रूप में आसक्ति होना हानिकारक नहीं है, क्योंकि उसमें सच्चिदानन्द बुद्धि होती है।

अथवा रूपादि का भोगने वाला प्राणवायु है, क्योंकि जिस इन्द्रिय में प्राण नहीं रहता वह अपने विषय को ग्रहण नहीं कर सकती। अतः प्राण ही सब इन्द्रियों का आधार है। जब तक प्राण अपने अधीन नहीं होगा तब तक विषयासक्ति नहीं छूटेगी। योगी अपने प्राणों पर अधिकार कर लेता है। परन्तु योगी और अवतारों में यह अन्तर है कि योगी तो प्राणों को अधीन करके विषयों को जीतता है किन्तु अवतार प्राणों का संयम किये बिना भी विषयासक्त नहीं होते।

संसार में सबसे अधिक राग स्त्री में होता है। और जब तक कहीं भी राग है तब तक भगवान् या आत्मा में राग नहीं हो सकता। इसलिये ब्रह्मचर्य की बड़ी आवश्यकता है। शरीर प्राणों का ही कार्य है, अतः प्राणों में विकार होने से शरीर में भी विकार हो जाते तथा तरह-तरह के रोग पैदा हो जाते हैं। प्राण के स्थिर होने से सब विकार शान्त हो जाते हैं। फिर भूख-प्यास को भी बाधा नहीं होती, मल-मूत्र कम हो जाते हैं और कफ शुद्ध हो जाता है। तब तो स्वयं ही ब्रह्मचर्य का पालन हो जाता है। देखो, बच्चे में प्राण की वृद्धि नहीं होती, इसलिये वह निर्विकार भाव से माँ की गोद में पड़ा रहता है। इसी प्रकार जिसका प्राण स्थित हो जाता है वह बच्चे की तरह निर्विकार हो जाता



है। उसकी मृत्यु भी नहीं होती। वह अमर हो जाता है। अतः प्राणों को स्थिर करना मनुष्य का प्रधान कर्त्तव्य है। और यही मनुष्य जन्म की सफलता है।

शरीर में जो भारापन होता है वह बात और कफ के कारण होता है। पित्त अर्थात् गर्मी बढ़ने से शरीर हल्का हो जाता है। गर्मी को ही बिजली कहते हैं। आसन और प्राणायाम के स्थिर होने पर शरीर में बिजली पैदा होती है और शरीर से कोई क्रिया की जाती है तो बिजली निकल जाती है। बिजली को रोकने से शरीर नीरोग हो जाता है। आसन स्थिर करने के लिए ऐसा संकल्प करना चाहिये कि जिस प्रकार पृथिवी को धारण करने पर शेषजी बिलकुल नहीं हिलते उसी प्रकार मैं भी स्थिर रहूँगा। मैं शरीर और प्राण का द्रष्टा हूँ। मन के सामने शरीर और प्राणों को देखते रहो।

प्राण की गति जानने के लिए नाभि पर दृष्टि रखो। यदि शरीर हिल जायगा तो प्राणों की गति बढ़ जायगी। यदि शरीर के बिना हिले ही प्राणों की गति बढ़ जाय तो समझो कि निद्रा-तन्द्रा आ रही है अर्थात् मन लय की ओर बढ़ रहा है। अभ्यास तो मन और प्राण की लड़ाई है। यदि प्राणों में मन लय होता है तो तमोगुण बढ़ता है और यदि मन में प्राण लीन होते हैं तो सत्वगुण की वृद्धि होती है। तमोगुण बढ़ने पर प्राणों की गति तेज हो जाती है और सत्वगुण बढ़ने पर वे स्थिर हो जाते हैं। जब मन प्राण के द्वारा काम करने लगता है तो रजोगुण बढ़ जाता है। इस अवस्था में प्राण की गति समान रहती है, परन्तु मन में संकल्प-विकल्प होने लगते हैं। ऐसा होने पर मन को संकल्प-विकल्पों से हटाकर लक्ष्य पर स्थिर करना चाहिए। ऐसा करने से वह शान्त हो जायगा। संकल्प त्याग करने से निश्चय ही इष्ट की प्राप्ति होती है। इसका मैं ठेका लेता हूँ। वीर्य, प्राण और मन इन तीनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें से एक के स्थिर होने से तीनों स्थिर हो जाते हैं। इसी से शास्त्रों में ब्रह्मचर्य पर बहुत जोर दिया है।



संगति—मन, वाणी या शरीर से किसी का भी अनिष्ट-चिन्तन, कटु भाषण या उत्पीड़न न करना अहिंसा है।

संगति—यहाँ तक शरीर का तप बताया गया। अब वाणी का तप बताते हैं—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

भावार्थ—दूसरों को उद्विग्न न करने वाला और जो सत्य, प्रिय और हितकारी हो ऐसा वचन बोलना तथा धर्म ग्रन्थों का अध्ययन—यह वाणी का तप कहा जाता है।

व्याख्या—दूसरों के चित्त में उद्वेग तथा क्षोभ कर देना ही वाणी का पाप है। इससे बचने का यही उपाय है कि जहाँ तक हो सके मौन रहे और यदि बोले तो उच्च स्वर से स्वाध्याय करे। यही वाणी का तप है। कहा भी है—

परापवादं पैशुन्यमनृतं च न भाषते।

अन्योद्वेगकरं चापि तुष्यते तेन केशवः॥

अर्थात् जो पुरुष दूसरे की निन्दा, चुगली और मिथ्याभाषण नहीं करता तथा किसी को बुरी लगने वाली बात भी नहीं कहता उससे भगवान् प्रसन्न रहते हैं। अतः हित, मित, सत्य, प्रिय और सरस वाणी का प्रयोग करना ही वाणी का तप है।

संगति—अब अगले श्लोक में मानसिक तप बतलाते हैं—

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

भावार्थ—मन की प्रसन्नता, शान्ति, मौन, मनोनिग्रह और भाव की शुद्धि—ये सब मानसिक तप कहे जाते हैं।

व्याख्या—जब तक मन शुद्ध नहीं होगा भोजन और भजन निष्फल है। अतः मन को प्रसन्न रखना चाहिए। परन्तु प्रसन्नता के साथ



शान्ति भी रहनी आवश्यक है। इसी से 'प्रसाद' के पश्चात् 'सौम्यत्व' शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् मन के साथ नेत्र, चेष्टा, वाणी सभी प्रसन्न और शान्त हों। साथ ही मौन, ध्यान और निरन्तर इष्ट-चिन्तन हो, आत्मविनिग्रह अर्थात् मन और इन्द्रियों का निग्रह हो। ये सब बातें हों परन्तु भाव शुद्ध न हो तो सब निष्फल है, इसलिये सबके पश्चात् भाव-संशुद्धि कही है। भाव-संशुद्धि यही है कि सारे संसार को ब्रह्ममय, भगवत्स्वरूप अथवा मरुस्थल के जल के समान, गन्धर्व-नगरवत् या स्वप्नसदृश देखें। तात्पर्य यह कि राग-द्वेष को स्थान न देना, इष्टाकार वृत्ति रखना और संसार-चिन्तन को समीप न आने देना ही भाव-संशुद्धि है।

**संगति—** अब तीन श्लोकों में तप के सात्त्विकादि भेद बतलाते हैं—

**श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।**

**अफलाकाङ्क्षभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥१७॥**

**भावार्थ—**यह तीन प्रकार का तप जब अत्यन्त श्रद्धा से, फलाकांक्षाहीन पुरुषों द्वारा एकाग्रचित्त से किया जाता है तो सात्त्विक कहलाता है।

**सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।**

**क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥१८॥**

**भावार्थ—**जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिये दम्भपूर्वक किया जाता है वह इस लोक में राजस, अस्थिर और अनित्य होता है।

**मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।**

**परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥१९॥**

**भावार्थ—**जो तप मूढ़ता से हठपूर्वक और शरीर को पीड़ा देकर तथा [ मारण-उच्चाटनादि के द्वारा ] दूसरों का नाश करने के लिये किया जाता है वह तामस कहलाता है।

**संगति—**अब दान के तीन भेद बतलाते हैं—



दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।  
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥२०॥

भावार्थ—जो दान देना ही चाहिए—ऐसी कर्तव्य बुद्धि से प्रत्युपकार की भावना न रखकर देश-काल में सुपात्र को दिया जाता है वह सात्त्विक माना गया है।

व्याख्या—धन, शरीर और प्राण का अर्पण कर देना दान है। मन और अन्तःकरण गुरुदेव को अर्पण कर देना सर्वस्व दान है। गंगातट आदि पुण्यस्थान दान के योग्य स्थान हैं तथा सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण आदि योग्य काल हैं। गुरु ही सत्पात्र हैं। अतः जो गुरुदेव को दिया जाता है वह सात्त्विक दान है। और भी जो भजनानन्दी, विरक्त और अकिञ्चन हैं वे भी दान के सत्पात्र हैं। जब जीवभाव नष्ट हो जाय और गुरु के साथ एकता हो जाय तो यह महादान है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।  
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥२१॥

भावार्थ—जो प्रत्युपकार की दृष्टि से अथवा फल को सामने रखकर कष्टपूर्वक दिया जाता है वह दान राजस माना जाता है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।

असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥२२॥

भावार्थ—जो दान अपवित्र देश या काल में अपात्रों को असत्कार और तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है वह तामस कहा गया है।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥२३॥

भावार्थ—ॐ तत् और सत् इन तीन अवयवों वाला नाम परब्रह्म का कहा गया है। इसी से सृष्टि के आरम्भ में ब्राह्मण, वेद और यज्ञों का विधान किया गया था।

व्याख्या—ॐ परब्रह्म का वाचक है—‘तस्य वाचकः प्रणवः’ (यो.सू.) ‘तत्’ और ‘सत्’ उसी के संकेत हैं। ब्रह्मा ने इन्हीं के द्वारा सर्ग



के आरम्भ में वेद, ब्राह्मण और यज्ञों की सृष्टि की थी। अतः ये इनके मूल कारण हैं।

**तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः।**

**प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥**

**भावार्थ—** अतः वेदवेत्ताओं के शास्त्रोक्त यज्ञ, दान और तप-रूप कर्म सर्वत्र 'ॐ' ऐसा उच्चारण करके किये जाते हैं।

**व्याख्या—**'ॐ तत्सत्' उच्चारण किये बिना कोई सत्कर्म आरम्भ नहीं किया जाता। इस श्लोक से यह भी सिद्ध होता है कि 'ॐ' के उच्चारण में मुख्यतया ब्राह्मण का ही अधिकार है। 'ब्रह्मवादिनाम्' शब्द का अर्थ भी तत्त्ववेत्ता नहीं, वेदवेत्ता ही समझना चाहिए, क्योंकि यहाँ उनके कृत्य यज्ञ-दानादि का उल्लेख है।

**तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः।**

**दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥**

**भावार्थ—**'तत्' ऐसा उच्चारण करके मुमुक्षुलोग फल की इच्छा त्यागकर यज्ञ, तप और दान आदि अनेकों कर्म करते हैं।

**सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।**

**प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥**

**भावार्थ—** हे पार्थ! सद्भाव और साधुभाव में 'सत्' इस शब्द का प्रयोग होता है। तथा श्रेष्ठ कर्म में भी सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है।

**व्याख्या—**'सद्भाव' अर्थात् किसी वस्तु का होना और 'साधुभाव' श्रेष्ठभाव। इन्हें सूचित करने के लिये 'सत्' विशेषण का प्रयोग होता है। इसी प्रकार शुभ कर्म को भी सत्कर्म कहा जाता है। अर्थात् 'सत्' का अर्थ है सत्ता और शुभ।

**यज्ञे तपसि दाने च स्थिति सदिति चोच्यते।**

**कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥**



भावार्थ—यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति है वह भी सत् कही जाती है। तथा उनके (परमात्मा के) लिये जो भी कर्म किया जाता है वह सत् कहलाता है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।  
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥२८॥

भावार्थ—हे अर्जुन! अश्रद्धापूर्वक जो भी हवन, दान, तप या कर्म किया जाता है वह असत् कहलाता है। वह न मरने पर काम आता है, न इस लोक में। [ अतः जो भी शुभ कर्म किया जाय वह श्रद्धापूर्वक होना चाहिये। ]

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां  
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे  
श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥१७॥





ॐ

श्री परमात्मने नमः  
श्री गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

## अथाष्टादशोऽध्यायः

**संगति—** सत्रहवें अध्याय में श्रद्धा, दान, तप, यज्ञ और आहारादि के सत्त्व, रज और तम भेद से तीन-तीन प्रकार बतलाये और निर्णय किया कि केवल सात्त्विक श्रद्धा और तप आदि ही कल्याण के हेतु हैं राजसी या तामसी नहीं। अब अठारहवें अध्याय में यह बतलावेंगे कि किस कर्म से अनन्तगुण फल होता है और किससे न्यून। जैसे द्रौपदी ने दुर्वासा ऋषि को नग्न देखकर अपनी साड़ी में से फाड़कर कौपीन दे दी और उन्हें नग्न होने से बचा लिया तो वही अनन्तगुण होकर द्रौपदी का चीर हुआ और कौरवसभा में उसकी लज्जा बचाने में निमित्त बना। अब सबसे पहले अर्जुन भगवान् से संन्यास और त्याग का तत्त्व पूछते हैं।

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।

त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥१॥

**भावार्थ—** अर्जुन ने कहा—हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिकन्दन! मैं आपसे संन्यास और त्याग का तत्त्व अलग-अलग जानना चाहता हूँ।

**व्याख्या—** यहाँ अर्जुन ने भगवान् को 'महाबाहो', 'हृषीकेश' और 'केशिनिषूदन' ये तीन विशेषण दिये हैं। 'महाबाहो' कहने से तात्पर्य है कि आप भगवदीय शक्ति से सम्पन्न हैं। अतः स्वयं भगवान् ही हैं। फिर 'हृषीकेश' इसलिए कहा कि आपका अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार है, अतः आपकी गोपियों के साथ जो गुह्य लीलाएँ थीं उनसे किसी को कोई भ्रान्ति नहीं रहनी चाहिये। आप भगवान् ही नहीं, पूर्ण इन्द्रियनिग्रही और तत्त्वदर्शी भी हैं। आगे 'केशिनिषूदन'



कहकर यह बतलाया कि आप दुष्टों का संहार करने वाले भी हैं। अतः अपने भक्तों की रक्षा करने में तत्पर हैं। इन सब विशेषणों से अर्जुन में आपसे बढ़कर और कोई समर्थ नहीं है। इस प्रकार अर्जुन उन्हें सर्वसमर्थ सूचित करते हैं।

संगति— अगले श्लोक में भगवान् इनका भेद बतलाते हैं—  
श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।  
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥२॥

भावार्थ— श्री भगवान् बोले—सूक्ष्मदर्शी लोग काम्यकर्मों के त्याग को संन्यास समझते हैं और विद्वानों ने सम्पूर्ण कर्मों के फलत्याग को त्याग बतलाया है।

व्याख्या— शास्त्रों में कामनाएँ बहुत बतलायी हैं, किन्तु मुख्य तीन ही हैं— स्वर्ग, पशु और पुत्र की कामनाएँ। पशु या गौ की कामना इसलिए है कि पहले ऋषियों का धन गौ ही होती थी। उसी से उन्हें हव्य सामग्री प्राप्त होती थी। उक्त तीनों कामनाओं का त्याग ही संन्यास है। काम्य कर्म इस लोक या परलोक की कामना से किये जाते हैं। उन्हें त्याग देना ही संन्यास है। ऐसा संन्यास गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी किया जा सकता है। यहाँ काम्यकर्मों के त्याग पर जोर दिया है, इसलिए इसे संन्यास कहा है। यह वास्तविक संन्यास या संन्यासाश्रम नहीं है।

समस्त कर्मों का त्याग हो भी नहीं सकता, क्योंकि श्वास-प्रश्वास, और खान-पान और चलना-फिरना तो होगा ही। इसलिए कर्मफल के त्याग को ही त्याग कहा है। हाँ, सिद्ध पुरुष अवश्य सब कर्मों का त्याग कर सकते हैं, क्योंकि उनमें कर्तृत्व भोक्तृत्व का संस्पर्श भी नहीं होता।

संगति— इसी विषय में मतान्तरों का उल्लेख करते हैं—



त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥३॥

भावार्थ— किन्हीं बुद्धिमानों का कहना है कि कर्म दोषयुक्त है, इसलिए उसे त्याग देना चाहिए। तथा अन्य विद्वान् कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप रूप कर्म नहीं त्यागने चाहिये।

व्याख्या— यज्ञों में जो पशु बलि आदि दी जाती है वहाँ हिंसा होने के कारण दोष है। अतः कर्मकाण्ड की दृष्टि से विहित होने पर भी विचार-दृष्टि से तो वह त्याज्य ही है। अतः कोई लोग तो कर्ममात्र को त्यागना ही श्रेयस्कर मानते हैं। किन्तु किन्हीं का मत है कि यज्ञ, दान और तप तो करते ही रहना चाहिये। इनसे अन्तःकरण शुद्ध होकर जिज्ञासा होगी।

संगति— यहाँ तक अन्य आचार्यों के मत बतलाकर अब भगवान् अपना मत बतलाते हैं—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।

त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः॥४॥

भावार्थ— हे भरतश्रेष्ठ! अब त्याग के विषय में तुम मेरा निश्चय सुनो। हे पुरुषसिंह! त्याग भी तीन प्रकार का कहा गया है।

व्याख्या— यहाँ भगवान् ने अर्जुन को 'भरतसत्तम' इसलिए कहा कि ब्रह्मविद्या प्रायः लुप्त हो चुकी थी। भरतकुल में भी उस समय कोई ब्रह्मवेत्ता नहीं था। वह तत्त्वज्ञान अर्जुन प्राप्त करना चाहता है, इसलिए वह भरतकुल में सर्वश्रेष्ठ है। इसी प्रकार 'पुरुषव्याघ्र' सम्बोधन भी इसीलिए प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि अर्जुन सिंह के समान निर्भय है और जो निर्भय होता है वही ब्रह्मविद्या प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न— तत्त्ववेत्ता का क्या लक्षण है?

उत्तर— ज्ञान के कुछ लक्षण तो इस श्लोक द्वारा पहले बतलाये जा चुके हैं—



अक्रोधवैराग्यजितेन्द्रियत्वं क्षमादयासर्वजनप्रियत्वम्।  
निर्लोभदानं भयशोकहानं ज्ञानस्य चिह्नं दशलक्षणानि॥

इनके सिवा जो क्षमावान् हो, आत्मचिन्तन में तत्पर हो, अमानी और निर्भय हो तथा सुख-दुःख में समान रहे और मानापमान में अविचल हो वह भी ज्ञानी है। वह क्षमावान् इसलिए होता है, क्योंकि शरीर से असंग होता है। आत्मा के सिवा किसी की सत्ता ही नहीं है, अतः और किसका चिन्तन करे। शरीर को वह स्वयं घृणित समझता है, इसलिए उसे मानापमान का कोई ध्यान नहीं होता। जब सब अपने ही स्वरूप हैं तो वह भय किससे करे। शरीर से उसका सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिए वह सुख-दुःख में समान रहता है। वह सम्पूर्ण मत-मतान्तर, प्रवृत्ति-निवृत्ति, ज्ञानी-अज्ञानी, और प्रेमी-अप्रेमियों को आकाश-कुसुमवत् देखता है, इसलिए सभी से उदासीन रहता है। ये सब लक्षण भी केवल संकेत मात्र हैं। वास्तव में तो तत्त्ववेत्ता का कोई लक्षण नहीं होता। अथवा सब संसार उसी का स्वरूप है, इसलिए सब उसी की महिमा है। ज्ञान तो स्वसंवेद्य है। यदि उसका कोई लक्षण हो तो वह परसंवेद्य हो जायगा। द्रष्टा को दृश्य और रज्जु को सर्प कैसे जानेगा।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥५॥

भावार्थ—यज्ञ, दान और तप आदि कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं, ये तो करने ही चाहिये, क्योंकि यज्ञ, दान और तप तो जीवन्मुक्तों को भी पवित्र करने वाले हैं।

व्याख्या—प्रश्न—ये जीवन्मुक्तों को क्या पवित्र करेंगे, वे तो स्वयं परम पवित्र होते हैं।

उत्तर—उनकी अनात्माकार वृत्ति न होने देना ही उनकी पवित्रता है।

प्रश्न—क्या जीवन्मुक्त संन्यासी यज्ञादि कर सकता है?



**उत्तर—**क्यों नहीं। यज्ञ तो पशु-पक्षी आदि सभी जीव कर रहे हैं, जैसे आटे में जल डालना, पेट में अन्न डालना आदि क्रियाएँ भी तो यज्ञ ही हैं। यद्यपि ये अविधि यज्ञ हैं। परन्तु भगवत्प्रीत्यर्थ होने पर ये साधनरूप हो जाते हैं। संन्यासी के लिए आत्माकार वृत्ति करना, सत्संग करना तथा ज्ञानोपदेश और स्वाध्याय करना—ये सब यज्ञ ही हैं। संन्यासी ये ही यज्ञ करते हैं, द्रव्य यज्ञ नहीं।

**संगति—** जिस प्रकार न्यायाधीश कहता है कि कानून के अनुसार तो ऐसा है, परन्तु मेरा मत यह है, इसी प्रकार भगवान् भलीभाँति निर्णय करके अपना मत कहते हैं—

**एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।**

**कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥**

**भावार्थ—** हे पार्थ! इन कर्मों को भी आसक्ति और फल का त्याग करके करना चाहिए। यह मेरा निश्चित उत्तम मत है।

**व्याख्या—** भगवान् ने यह कर्मकाण्डियों का सिद्धान्त कहा है। उनका तो यही सिद्धान्त है कि उपासना और ज्ञान कुछ नहीं कर्मकाण्ड ही वेदोक्त सिद्धान्त है। अतः आसक्ति को त्याग कर कर्म करते रहना चाहिए। परन्तु यह बात तर्क और अनुभव से सिद्ध नहीं होती। अनुभव तो यही बताता है कि तत्त्वनिष्ठ से व्यावहारिक कर्म नहीं होते। अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करना है और उसी का वह अधिकारी है। इसलिए उसके अधिकार के अनुसार वे उसे निष्काम कर्म में प्रवृत्त कर रहे हैं।

**नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।**

**मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥**

**भावार्थ—** शास्त्रविहित कर्म का त्याग उचित नहीं है। मोहवश उसे त्याग बैठना तमोगुणी कहा गया है।

**व्याख्या—** यदि त्याग करने वाला वैराग्यवान् मुमुक्षु है तब तो शास्त्रोक्त कर्म का त्याग करके संन्यासाश्रम ग्रहण करना भी उचित ही है। परन्तु वैराग्य न होने पर केवल देखा-देखी ऐसा करना तो तमोगुण ही है।



दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्यजेत् ।  
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

भावार्थ—जो गृहस्थाश्रम में दुःख है ऐसा समझकर केवल शारीरिक कष्ट के भय से कर्म छोड़ बैठते हैं वे तो रजोगुणी त्याग करते हैं। उन्हें त्याग का फल (शान्ति) नहीं मिलता।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।  
सङ्गंत्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥९॥

भावार्थ—हे अर्जुन! जो पुरुष विहित कर्मों को 'करना ही चाहिए' ऐसी बुद्धि से आसक्ति और फल का त्याग करके करता है उसका वह त्याग सात्त्विक माना गया है।

व्याख्या—रूपासक्ति, धन, रसास्वाद, नियमविरुद्ध दया और मानापमान— इन पाँच का त्याग ही सात्त्विक त्याग है।

संगति—ये साधकों के लिए त्रिगुणमय त्याग बतलाये। अब इन सबसे श्रेष्ठ जो तत्त्ववेत्ता का त्याग है वह बतलाया जाता है—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।

त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

भावार्थ—जो त्यागी, सत्त्वसम्पन्न, मेधावी और संशयशून्य महापुरुष है वह तो अकुशल। दुःखदायी कर्म से द्वेष नहीं करता और कुशल (सुखदायी) कर्म में आसक्त नहीं होता।

व्याख्या—जो पहले निष्काम कर्म और उपासना कर चुका है उसे जब तत्त्वबोध हो जाता है तो उसका कहीं भी राग या द्वेष नहीं रहता, क्योंकि वह सभी का अत्यन्ताभाव देखता है अथवा सबको अपना स्वरूप ही समझता है। जब वह सबका अत्यन्ताभाव देखता है तो पूर्ण त्यागी है और जब सबको स्वस्वरूप देखता है तो पूर्णसंग्रही है। जब उसकी अन्तर्दृष्टि होती है तो वह सबका अत्यन्ताभाव देखता है और पूरा नास्तिक होता है और जब बाह्य दृष्टि होती है तो सबको अपना स्वरूप देखता है और पूरा आस्तिक होता है। वह त्यागी है,



इसलिए सत्त्वसम्पन्न है और सत्त्वसम्पन्न होने के कारण मेधावी (बुद्धिमान्) है। तथा बुद्धिमान् होने के कारण उसके सब संशय नष्ट हो गये हैं।

‘त्यागी’—अन्तर्बाह्य दृश्य, पञ्चकोश तथा इहलोक परलोक का त्याग ही वास्तविक त्याग है। ‘सत्त्वसमाविष्ट’—सत्तामात्र जो आत्मतत्त्व है उसमें स्थिति ही सत्त्वसमावेश है। जिसे पूर्णतया नित्यानित्यविवेक है वही मेधावी है। ‘छिन्नसंशय’—ईश्वर जीव का भेद, जीव-जीव का भेद, ईश्वर-प्रकृति का भेद—इन सब भेदों की निवृत्ति होकर पूर्ण ज्ञान हो जाना ही संशयों का छेदन है। जिसकी सत्त्व में स्थिति होगी वही त्यागी है, वही मेधावी है, वही छिन्न संशय है और वही सर्वगुण सम्पन्न है।

**न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।**

**यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥**

भावार्थ—जो देहधारी है उसके द्वारा कर्मों का पूर्णतया त्याग नहीं हो सकता। जो कर्मफल का त्याग करने वाला है वही त्यागी कहा जाता है।

व्याख्या—ऐसा करने पर ही कोई सन्तपद प्राप्त कर सकता है, क्योंकि संग्रह की अपेक्षा त्याग ही श्रेष्ठ और सुकर (सरल) है। संग्रह की तो कभी पूर्ति नहीं हो सकती। हाँ, त्याग पूरा किया जा सकता है। किन्तु त्याग में भी क्रिया का त्याग देह के रहते हुए सम्भव नहीं है। अतः आवश्यक कर्म तो करे, परन्तु फल की कामना न करे।

**अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।**

**भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न सु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥**

भावार्थ—जो अत्यागी (कर्मफल का त्याग न करने वाले) है उन्हें देह त्याग करने पर इष्ट (अनुकूल), अनिष्ट (प्रतिकूल) और मिश्रित तीन प्रकार का कर्मफल प्राप्त होता है। किन्तु संन्यासियों (कर्मफल-त्यागियों) को कहीं कोई फल नहीं मिलता।



**व्याख्या**—जिनके पाप-पुण्य समान होते हैं वे मनुष्य योनि में जाते हैं, जिनके पुण्यकर्म अधिक होते हैं वे देवादि योनियों में जाते हैं और जिनमें पाप की प्रधानता होती है वे चौरासी लाख तिर्यक् योनियों में जाते हैं। परन्तु कर्मफलत्यागी संन्यासियों को कोई योनि प्राप्त नहीं होती, क्योंकि आत्मा अकर्ता-अभोक्ता है। अतः तत्त्ववेत्ता करते हुए भी कुछ नहीं करता।

**संगति**—कर्म करने वाले पाँच हैं। अर्थात् कोई भी क्रिया पाँच के द्वारा निष्पन्न होती है। इन पाँचों को बतलाने से पहले भगवान् यह संकेत करते हैं कि मैं अपनी ओर से कुछ नहीं कह रहा हूँ। जो कुछ भी कहा जाता है वह सांख्यशास्त्र के अनुसार है।

**पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।**

**सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्ध्ये सर्वकर्मणाम्॥१३॥**

**भावार्थ**—हे महाबाहो! सम्पूर्ण कर्मों निष्पत्ति में सांख्य सिद्धान्त में कहे हुए ये पाँच कारण हैं, वह मुझसे सुनो।

**अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।**

**विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥१४॥**

**भावार्थ**—[वे पाँच कारण ये हैं]—अधिष्ठान (शरीर), कर्ता (चिदाभास), भिन्न-भिन्न प्रकार के कारण (इन्द्रियों), तरह-तरह की चेष्टाएँ और पाँचवाँ दैव (विधाता या इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव)।

**शरीरवाङ् मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।**

**न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥१५॥**

**भावार्थ**—मनुष्य शरीर वाणी या मन से जो भी शुभ, या अशुभ कर्म करता है उसके पाँच ही हेतु होते हैं।

**संगति**—अब यह बतलाते हैं कि जो केवल आत्मा को ही कर्ता मानता है वह अज्ञानी है—

**तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।**

**पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥१६॥**



**भावार्थ**—परन्तु ऐसा होने पर भी जो केवल आत्मा को ही कर्ता देखता है वह दुर्मति तो अशुद्धबुद्धि होने के कारण यथार्थ नहीं देखता।

**व्याख्या**—शरीर के द्वारा सब कुछ करते हुए भी बोधवान् अपने को अकर्ता देखता है, किन्तु अज्ञानी अपने को ही कर्ता-भोक्ता समझता है। अतः बोधवान् का अपने कर्मों के शुभाशुभ फल से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसी से श्रुति कहती है—“नैनं कृताकृते तपतः।”

**प्रश्न**—आप कहते हैं कि बोधवान् के शुभाशुभ फल नहीं होते तो क्या बोधवान् में काम-क्रोधादि असद्वृत्तियाँ रहती हैं?

**उत्तर**—बोधवान् में ये क्षणिक आभासमात्र रहते हैं। वह इन्हें पालता नहीं, किन्तु कोई प्रसंग उपस्थित होने पर इनका क्षणिक स्फुरण हो सकता है। परन्तु इन पर उसका अधिकार रहता है। ये उसे दबा नहीं सकते। ऐसा भी कहा है—

**विरक्तो विषयद्वेष्टा रागी विषयलोलुपः।**

**ग्रहमोक्षविहीनस्तु न विरक्तो न रागवान्॥**

**अर्थात्**—विरक्त तो विषयों से द्वेष करता है और रागी उन में आसक्त रहता है। किन्तु ज्ञानी विषयों को न पकड़ता है न छोड़ता है, इसलिए वह न रागी है न विरागी। तात्पर्य यह है कि मन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। काम-क्रोधादि भी बोध के बाधक नहीं, शान्ति के बाधक हैं। ये शरीर के स्वभाव हैं, जब तक शरीर है इनका भी भास रहेगा ही।

**प्रश्न**—यदि ज्ञानी को भी काम-क्रोधादि रहे तो ज्ञान का फल ही क्या हुआ ? अशान्ति तो बनी ही रही।

**उत्तर**—अज्ञानी का व्यष्टि शरीर में अभिमान होता है, इस लिए वह उसके विकारों को अपने में मानता है। और उनके कारण अपने को पापी या पुण्यात्मा समझता है। किन्तु ज्ञानी को शरीर और अन्तःकरण स्वप्नवत् जान पड़ते हैं। उसका अभिमान सबके अधिष्ठानभूत आत्मा में रहता है। अतः प्रसंगवश होने वाले काम-



क्रोधादि को भी वह स्वप्नवत् ही समझता है। उसकी वृत्ति अपने शुद्ध स्वरूप से कभी नहीं हटती।

**प्रश्न**—जिस समय काम-क्रोध की वृत्ति होगी उस समय तो उसकी वृत्ति स्वरूप से हट ही जानी चाहिए, क्योंकि विकाराकार वृत्ति के समय ब्रह्माकार वृत्ति और ब्रह्माकार वृत्ति के समय विकाराकार वृत्ति होनी असम्भव है।

**उत्तर**—ज्ञानी ब्रह्माकार वृत्ति करता नहीं। ब्रह्माकारवृत्ति तो साधनारूपा है। वह स्वरूपसाक्षात्कार से पहले की जाती है। स्वरूप साक्षात्कार होने पर वृत्ति निश्चयात्मिका हो जाती है। फिर ब्रह्म में ही आत्माभिमान हो जाता है। किन्तु शरीर और मन तो प्रारब्ध के पुतले हैं। अपने प्रारब्धानुसार सुख-दुःख भोगने के लिए तरह-तरह की वृत्तियाँ उठती रहती हैं। इसलिए मानसिक वृत्तियों के बदलते रहने पर भी बुद्धि की निश्चयात्मिका वृत्ति एक ही रहती है। ब्रह्माकारवृत्ति निश्चयात्मिका होने के कारण बुद्धि की है और काम-क्रोधादि वृत्तियाँ विकारात्मिका होने के कारण मन की हैं। अतः उनके एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है। यदि कहा जाय कि प्रारब्ध का फल तो सुख-दुःख है, राग द्वेष नहीं, तो राग-द्वेष का अभाव रहने पर तो सुख-दुःख का भोग भी नहीं हो सकता; क्योंकि राग सुखानुशयी अर्थात् सुख के बाद रहने वाला होता है और द्वेष दुःखानुशयी। इससे निश्चय हुआ कि ज्ञानी में स्वदृष्टि से राग-द्वेष और काम-क्रोध का अत्यन्ताभाव होने पर भी देह-दृष्टि से उनकी प्रतीति होने में कोई हानि नहीं है, क्योंकि उसमें कर्माशय नहीं होता। अर्थात् उसे ऐसा भ्रम कभी नहीं होता कि मैं कर्ता-भोक्ता हूँ।

अथवा यों समझो कि कर्माशय चार प्रकार के होते हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। समाधिनिष्ठ तत्त्ववेत्ता में वे प्रसुप्त रहते हैं, व्यवहारस्थ तत्त्ववेत्ता में तनु रहते हैं, धर्मात्मा या साधक में विच्छिन्न रहते हैं और संसारी में उदार रहते हैं। वे मरते समय भी लड़के से कह जाते हैं कि इसका बदला लेना। तत्त्ववेत्ता में जो तनु



कर्माशय कहा है वह भी व्यावहारिकी दृष्टि से हैं। वास्तव में तो जब उसका शरीर ही नहीं तो कर्माशय कहाँ रहेगा।

संगति—अब तत्त्ववेत्ता की पूर्ण असंगता का वर्णन करते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।

हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

भावार्थ—जिस पुरुष में अपने कर्तापन का अभिमान नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह इन सब लोकों को मारकर भी नहीं मारता और न बन्धन को प्राप्त होता है।

व्याख्या—परन्तु यह बात अर्थवाद (स्तुति-वाक्य) है।

प्रश्न—आपने तो कहा था कि भगवद्वाक्य यथार्थ होते हैं, उनमें अर्थवाद-बुद्धि करना अपराध है। फिर आप इस श्लोक को अर्थवाद क्यों बताते हैं?

उत्तर—व्यवहार में तो अर्थवाद नहीं कह सकते, परन्तु यह बात कही गयी है जिज्ञासु की निष्ठा बढ़ाने के लिए ही। तत्त्ववेत्ता के लिए तो गीता क्या, सम्पूर्ण वेदशास्त्र भी परमार्थ दृष्टि से अर्थवाद ही हैं, क्योंकि शास्त्र दृश्य-सत्ता में हैं, वे जिज्ञासु के लिए हैं, बोधवान् के लिए नहीं। कहा भी है—

वर्णाश्रमाभिमानेन श्रुतेर्दासो भवेन्नरः।

वर्णाश्रमविहीनो यो वर्तते श्रुतिमूर्द्धनि ॥

अर्थात्—मनुष्य वर्णाश्रम का अभिमान होने पर श्रुति का दास है, जो वर्णाश्रम के अभिमान से शून्य है वह तो श्रुति के सिर पर रहता है।

संगति—अब यह बतलाते हैं कि कर्म की प्रेरणा और कर्म का संग्रह किस प्रकार होता है—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।

करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

भावार्थ—ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता—ये तीनों कर्म के प्रेरक हैं तथा करण, कर्म और कर्ता—ये तीन कर्म के संग्रह हैं।



अध्याय १९  
व्याख्या—यहाँ 'ज्ञान' का अर्थ कर्तव्य-अकर्तव्य का व्यावहारिक  
893

ज्ञान है, परमार्थ-ज्ञान नहीं। 'ज्ञेय' दृश्यवर्ग को समझना चाहिए।  
'करण' इन्द्रिय वर्ग और मन-बुद्धि आदि हैं। तात्पर्य यह कि ज्ञानादि  
के द्वारा तो कर्म में प्रेरणा होती है और करणादि के द्वारा क्रिया की  
निष्पत्ति होती है। इन सबका साक्षी आत्मा अकर्ता ही है।

संगति—ये ज्ञान कर्म और कर्ता गुणभेद से तीन-तीन प्रकार  
के होते हैं—यह बात अगले श्लोकों में बतायी जाती है—

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।

प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥१९॥

भावार्थ—जिसमें गुणों का विवेचन किया है उस सांख्य शास्त्र  
में ज्ञान, कर्म और कर्ता भी गुणभेद से तीन-तीन प्रकार के ही कहे  
हैं। उन्हें भी भली भाँति सुनो।

व्याख्या—भगवान् के इस कथन से यह बात व्यक्त होती है कि  
वे अपनी ओर से कुछ नहीं कह रहे हैं, सांख्यशास्त्र के आधार पर ही  
बोल रहे हैं।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।

अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥२०॥

भावार्थ—जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य अलग-अलग सब  
प्राणियों में एक अविभक्त अविनाशी भाव देखता है। उस ज्ञान को तुम  
सात्त्विक जानो।

व्याख्या—ऐसा ज्ञान पूर्व पुण्य और ईश्वर एवं गुरुदेव की कृपा  
से ही होता है। यही यथार्थ ज्ञान है। ऐसा होने पर सब अपने ही हो  
से ही होता है। यही यथार्थ ज्ञान है। ऐसा होने पर सब अपने ही हो  
जाते हैं, किसी में कोई राग-द्वेष नहीं रहता। यह स्त्री है, यह पुरुष है,  
यह ब्राह्मण है—इत्यादि देखना भेद-ज्ञान है। जहाँ भेद होता है वहाँ  
राग-द्वेष होता है। सच पूछा जाय तो सबमें एक सत्ता देखना ही ज्ञान  
है और भेद-दृष्टि ही अज्ञान है। परन्तु भक्ति में कार्य-दृष्टि का महत्व



होता है और ज्ञान में कारण-दृष्टि का। कहीं कारण का महत्व अधिक होता है कहीं कार्य का। जैसे लोक में पुत्र की अपेक्षा माता पिता को बड़ा माना जाता है। परन्तु संन्यास ले लेने पर पुत्र ही बड़ा हो जाता है। लकड़ी एक रुपये की होती है परन्तु उसकी मूर्ति घड़ ली जाय तो वह १० रुपये की हो जाती है। किन्तु माया जीव-जगत्—ये सब स्वप्नमात्र है—ऐसी दृष्टि हो तो कारणदृष्टि ही का विशेष महत्व होता है।

संगति—अब राजस ज्ञान बतलाते हैं—

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।

वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥२१॥

भावार्थ—जिस ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण भूतों में अनेक पदार्थों को भिन्न-भिन्न पात्रों के रूप में जाना जाता है उस ज्ञान को राजस जानो।

व्याख्या—एक को अनेक रूपों में देखना, अर्थात् मिट्टी को भिन्न-भिन्न पात्रों में जानना राजस ज्ञान है। इस प्रकार कारणज्ञान सात्विक है और कार्य-ज्ञान राजस। यह नियम है कि प्रीति कार्य में होती है, कारण में नहीं। जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो पहले कारण पर ही दृष्टि जाती है, किन्तु उसका कोई आकर्षण नहीं होता। यदि कारण में प्रीति होती भी है तो कार्य के लोभ से ही होती है। यदि घड़ा अच्छा बना हो तो मिट्टी भी अच्छी लगती है और उसे लेने के लिये दूर देश में भी चले आते हैं। कार्य में प्रीति होना ही जीवभाव है, क्योंकि परिच्छिन्न दृष्टि होने पर ही कार्य में प्रीति होती है। व्यापक दृष्टि हुए बिना कार्य का मोह निवृत्त नहीं होता और न जीवत्व ही नष्ट होता है। इसी से बोध होने पर कार्य का आकर्षण नहीं रहता और यही कल्याण का हेतु है।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहेतुकम्।

अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥२२॥

भावार्थ—जबकि एक कार्यरूप शरीर में ही अकारण पूर्णतया आसक्ति हो जाय तथा जिसमें तत्त्वदृष्टि भी न हो ऐसा तुच्छ ज्ञान तामस कहा गया है।



**व्याख्या**—जो पुरुष कार्यरूप शरीर में ही पूर्णरूप से आसक्त हो जाय और जिसमें कोई तत्त्वदृष्टि भी न हो वह तुच्छ ज्ञान तो तमोगुणी ही है। यह ज्ञान ऐसा ही है जैसे रज्जु में सर्प का और स्थाणु में पुरुष का ज्ञान।

**संगति**—अब अगले श्लोकों में कर्म के भेद बतलाये जाते हैं—  
**नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः**

**अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥**

**भावार्थ**—जो कर्म शास्त्रविहित हो, आसक्तिशून्य हो, राग-द्वेषरहित होकर किया जाय और फलाकांक्षा से शून्य पुरुष द्वारा अनुष्ठित हो वह सात्त्विक कहा जाता है।

**यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।  
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥**

**भावार्थ**—जो कर्म अहंकारपूर्वक सकाम पुरुष द्वारा बड़े परिश्रम से किया जाय वह राजस कहा गया है।

**अनुबन्धं क्षयं हिंसा मनवेक्ष्य च पोरुषम्।  
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥**

**भावार्थ**—जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और अपने सामर्थ्य का विचार न करके केवल मोहवश आरम्भ कर दिया जाता है वह तामस कहलाता है।

**व्याख्या**—अनुबन्ध—परिणाम, अर्थात् इससे सुख होगा या दुःख इसका विचार न करना। पाँच रुपया खर्च करने की सामर्थ्य होने पर भी पचास खर्च कर डालना। पूर्वापरका विचार किये बिना कोई कार्य कर बैठना, जैसे भोजन तैयार होने से पहले ही जीमने बैठा देना। मेरी बात किसी को रुचती है या नहीं, इसका विचार न करके बोले जाना। यह सब अनुबन्ध का विचार न करना है।

**क्षय**—इस काम को करने पर कितनी हानि होगी, इसका विचार न करके कार्य आरम्भ कर देना।



**हिंसा**—ऐसा करने से किसी को कष्ट तो नहीं होगा—ऐसा विचार न करना। जैसे कर रहे हैं यज्ञ और दूसरों से बेगार लेते हैं।

**पौरुष**—अपनी कितनी शक्ति है इसका विचार न करना। यह सब बिना विचारे मोहवश जो काम किया जाता है वह तामस होता है।

**संगति**— अब तीन प्रकार के कर्ता बतलाते हैं।

**मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।**

**सिद्ध्यसिद्धयोर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥**

**भावार्थ**—[ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विवेक हो जाने के कारण ] जिसकी किसी में आसक्ति नहीं है, जो अहंकाररहित है, धैर्य और उत्साहयुक्त है तथा सिद्धि-असिद्धि में [ हर्ष-शोकादि ] विकारों से रहित है, ऐसा कर्ता सात्त्विक कहा जाता है।

**व्याख्या**—व्यक्ति मुक्तसङ्ग होने पर ही अहंकारशून्य हो सकता है। धैर्य और उत्साहयुक्त तो रजोगुणी भी हो सकते हैं, परन्तु वे सिद्धि-असिद्धि में समान नहीं रह सकते।

**रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।**

**हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥**

**भावार्थ**—जो आसक्तियुक्त हो, कर्मफल की कामना वाला हो लोभी, दूसरों को कष्ट पहुँचाने वाला और अपवित्र हो तथा हर्ष-शोक से युक्त हो वह कर्ता राजस कहा जाता है।

**व्याख्या**—सात्त्विक कर्ता से इसका इतना ही अन्तर है कि वह आसक्तिशून्य होता है और यह आसक्तियुक्त होता है तथा वह सिद्धि-असिद्धि में निर्विकार होता है और यह हर्ष-शोकरूप विकारों से युक्त होता है।

**अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।**

**विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥**



**भावार्थ**—जो युक्तहीन, साधारण, कर्तव्याकर्तव्यशून्य, हठीला, अकर्मण्य, आलसी, विषादी (काम बिगड़ने पर दुःखी हो जाने वाला) और दीर्घसूत्री (कार्य की पूर्ति में अधिक समय लगाने वाला) हो वह कर्ता तामस कहा जाता है।

**संगति**—अब बुद्धि और धृति के भेद बतलाते हैं।  
**बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।**  
**प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥२९॥**

**भावार्थ**—अब हे धनञ्जय! गुणों के अनुसार बुद्धि और धृति के भी तीन प्रकार के भेद मेरे द्वारा पृथक्-पृथक् कहे हुए सुनो।

**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।**  
**बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥३०॥**

**भावार्थ**—हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्ति-निवृत्ति, कर्तव्य-अकर्तव्य, भय-अभय और बन्ध-मोक्ष को जानती है वह सात्त्विकी है।

**प्रश्न**—प्रवृत्ति और निवृत्ति में क्या अन्तर है।

**उत्तर**—चित्त की व्यवहारोन्मुक्त वृत्ति प्रवृत्ति है और निर्व्यापार स्थिति निवृत्ति है। विचारदृष्टि से इनमें कोई न्यूनाधिक नहीं है। परन्तु इतना भेद अवश्य है कि प्रवृत्ति में विचार का पूर्ण विकास नहीं होता और निवृत्ति में होता है। जैसे मिट्टी और काँच विचारदृष्टि से तो एक ही है। परन्तु मिट्टी के मकान में बैठा हुआ मनुष्य बाहर का कोई पदार्थ नहीं देख सकता, किन्तु काँच के मकान में बैठा हुआ सब कुछ देख सकता है।

**यथा धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।**

**अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥३१॥**

**भावार्थ**—हे पार्थ! जिसके द्वारा मनुष्य धर्म-अधर्म और कर्तव्य-अकर्तव्य को यथार्थ रूप से नहीं जानता वह बुद्धि राजसी है।

**व्याख्या**—उपर्युक्त दो श्लोकों में कार्य अकार्य शब्द आये हैं। दोनों का अर्थ कर्तव्य और अकर्तव्य ही है। परन्तु सात्त्विक बुद्धि वाला



इनके विभाग को ठीक-ठीक जानता है और राजस बुद्धि वाला कर्त्तव्य को अकर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य को कर्त्तव्य समझता है। इस विषय में उसका निर्णय विपरीत होता है।

अधर्म धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।

सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

भावार्थ—हे पार्थ! जो तमोगुण से आच्छादित बुद्धि अधर्म को ही धर्म मानती है तथा और सब विषयों को उल्टे ही समझती है वह तमोगुणी है।

संगति—अगले तीन श्लोकों में तीन प्रकार की धृति के भेद बतलाते हैं।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

भावार्थ—हे पार्थ! जिस अव्यभिचारिणी धारणा से योग द्वारा प्राण और इन्द्रियों की क्रिया को वश में किया जाता है वह सात्त्विकी धृति है।

यया तु धर्मकामार्थन्धृत्या धारयतेऽर्जुन।

प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

भावार्थ—हे अर्जुन! जिस धृति के द्वारा मनुष्य धर्म, अर्थ और कामों को धारण करता है और प्रसंगवश फल की कामना भी करता है वह धृति राजसी है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।

न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

भावार्थ—जिस धारणा शक्ति के द्वारा दुर्बुद्धि पुरुष स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मद को नहीं छोड़ पाता वह धृति तामसी है।

व्याख्या—ऐसे मनुष्य को कितना ही समझाओ वह अपना स्वभाव नहीं बदलता।



संगति—अब तीन प्रकार के सुखका वर्णन करते हैं—  
 सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।  
 अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥३६॥

भावार्थ—हे भरतश्रेष्ठ! अब तुम मुझसे तीन प्रकार के सुख के विषय में भी सुनो, जिसमें अभ्यासवश मनुष्य रमण करने लगता है और दुःखों का अन्त प्राप्त कर लेता है।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।  
 तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥३७॥

भावार्थ—जो पहले तो विष के समान कटु जान पड़े, किन्तु परिणाम में अमृत के समान हितकारी हो वह मन और बुद्धि की निर्मलता से उत्पन्न होने वाला सुख सात्त्विक कहा गया है।

व्याख्या—प्रातःकाल शीघ्र उठना, स्नान करना, व्रत, उपवास, जप, पाठ, ब्रह्मचर्य का पालन तथा सम्बन्धी और सम्पत्ति को छोड़कर संन्यास लेना—ये सब आरम्भ में बड़े कठिन जान पड़ते हैं। परन्तु अन्त में अमृत के समान सुखदायी हैं। प्रातःकाल सोने से साधु का पतन होता है, ब्रह्मचर्य नष्ट होता है और गृहस्थ दरिद्री हो जाता है। कष्टसाध्य होने पर भी कल्याण सात्त्विक सुख से ही होता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।

परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥३८॥

भावार्थ—विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न हुआ जो सुख आरम्भ में अमृत के समान, किन्तु परिणाम में विष के तुल्य होता है वह राजस सुख माना गया है। जैसे स्त्री-पुत्रादि और खान-पान का सुख आरम्भ में सुख जान पड़ता है, किन्तु परिणाम में दुःख, शोक और रोग का ही कारण होता है।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।  
 निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥३९॥



**भावार्थ—**जो आरम्भ में और अन्त में मन को मोह में ही डालने वाला होता है वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से होने वाला सुख तामस कहा गया है।

**न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।**

**सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥४०॥**

**भावार्थ—**पृथिवी में, स्वर्ग में तथा देवताओं में भी कोई ऐसा प्राणी नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीन गुणों से मुक्त हो।

**व्याख्या—**उन्नसीवें से लेकर उनचालीसवें श्लोक तक यह बतलाया गया है कि स्वर्ग, पाताल, इहलोक, परलोक पर्यन्त जो कुछ है सब त्रिगुणात्मक है। परन्तु इन सबसे परे भी एक तत्त्व है, जिसे भगवान् गुणातीत कहते हैं। किन्तु उसकी प्राप्ति तत्त्वज्ञ महापुरुषों को ही हो सकती है। वह परमानन्द अवर्णनीय है, संसारी जीव तो त्रिगुणात्मक है। परन्तु इन सबसे परे भी एक तत्त्व है, जिसे भगवान् गुणातीत कहते हैं। किन्तु उसकी प्राप्ति तत्त्वज्ञ महापुरुषों को ही हो सकती है। वह परमानन्द अवर्णनीय है, संसारी जीव तो त्रिगुणात्मक सुखों में ही फँसे हुए हैं।

परमात्मा का साक्षात् दर्शन वेदशास्त्र भी नहीं करा सकते। वे भी केवल संकेतमात्र करते हैं। एक बार श्री जानकीजी से वनवासिनी नारियों ने पूछा कि तुम्हारे साथ ये दो पुरुषसिंह कौन हैं। तब उन्होंने उत्तर दिया कि इनमें जो गौरवर्ण हैं वे मेरे छोटे देवर हैं। इससे निश्चय हो गया कि दूसरे इनके पति देव हैं। इसी प्रकार शास्त्रों ने नेति-नेति कहकर सबका निषेध किया है और इसी प्रकार निषेधावधिभूत तत्व को परमात्मा बतलाया है।

**संगति—**आगे के चार श्लोकों में चारों वर्णों के कर्म बतलाते हैं—

**ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।**

**कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥४१॥**

**भावार्थ—**हे परन्तप! स्वभावजनित गुणों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्मों का भी त्याग किया गया है।



शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।  
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥४२॥

भावार्थ—शम (मन की शान्ति), दम (इन्द्रियनिग्रह) तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, ज्ञान (शास्त्रज्ञान) विज्ञान (तत्त्वज्ञान) और आस्तिकता (शास्त्र और ईश्वर में श्रद्धा) ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।

व्याख्या— ब्राह्मण के विषय में ऐसा भी कहा है कि वह क्रोध करना नहीं जानता—‘क्रोधं कर्तुं न जानाति एतद् ब्राह्मण-लक्षणम्।’  
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।  
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥४३॥

भावार्थ—बल, तेज, धैर्य कुशलता, युद्ध से न भागना, दान और शासन करने का स्वभाव—ये क्षत्रिय के स्वभाविक कर्म हैं।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥४४॥

भावार्थ—कृषि, गोपालन और वाणिज्य—ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं। तथा शूद्र का स्वभाविक कर्म सेवा है।

व्याख्या—इन तीनों श्लोकों में चारों वर्णों के कर्मों का वर्णन करते हुए भगवान् ने ‘स्वभावजम्’ शब्द का प्रयोग किया है। इससे निश्चय होता है कि ये चारों वर्णों के जन्मजात कर्म हैं, उपार्जित नहीं।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥४५॥

भावार्थ—मनुष्य अपने-अपने कर्म में लगे रहने पर सम्यक् सिद्धि (अन्तःकरण की शुद्धि या क्रममुक्ति) प्राप्त कर लेता है। अपने कर्म में निरत रहने पर जिस प्रकार सिद्धि मिलती है वह सुनो—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥४६॥

भावार्थ—जिससे सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति हुई है और जिसके द्वारा यह सब व्याप्त है, अपने कर्म-द्वारा उसकी पूजा करने पर मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है। अर्थात् उसे उस परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।



श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥४७॥

भावार्थ—भले प्रकार अनुष्ठान किये परधर्म से गुणरहित भी स्वधर्म श्रेष्ठ है। जो कर्म स्वभाव से निश्चित है उसे करने पर कोई दोष नहीं होता।

व्याख्या—स्वकर्म अर्थात् अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन करना ही परमात्मा की पूजा है। अतः अपना वर्णाश्रम धर्म गुणरहित प्रतीत होने पर भी वास्तव में त्याज्य नहीं होता। अपने लिए वही कल्याणकारी होता है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥४८॥

भावार्थ—हे कुन्तीनन्दन! अपना स्वाभाविक कर्म दोषयुक्त हो तो भी नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि धुएँ से अग्नि के समान सभी आरम्भ दोष से ढके हुए हैं।

व्याख्या—धर्म जन्म के साथ ही लगा हुआ है। जैसे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ बालक स्वभाव से ही जप, ध्यान और स्वाध्याय में निरत रहता है तथा क्षत्रिय का बालक सिंहादि वन्य पशुओं का आखेट करता है। अतः अपना कर्म दोषयुक्त जान पड़े तो भी उसे त्यागे नहीं, क्योंकि अग्नि के साथ जैसे धुआँ रहता है वैसे ही कोई न कोई दोष तो प्रत्येक कर्म के साथ लगा हुआ है।

कर्मों में दोषदृष्टि तो भक्त और जिज्ञासुओं की होनी चाहिए। उनके लिए तो कर्ममात्र दोषयुक्त है। जिज्ञासु को तो यही विचार करना चाहिए कि मैं कौन हूँ, यह संसार क्या है और यह आ कहाँ से गया इत्यादि। परन्तु कर्मकाण्डी को तो कर्म ही इष्ट होता है, क्योंकि यह संसार कर्म ही का तो परिणाम है। अतः उसे निरन्तर स्वकर्म का अनुष्ठान करना चाहिए। इसी से ये कर्मलोलुप कर्मकाण्डी भक्ति और ज्ञान को नहीं पहचान सकते। कहा भी है—‘यत्कर्मि न विजानाति’ इत्यादि।

संगति—अब निष्कामकर्म और उपासना का फल बतलाते हैं—



असक्तबुद्धि सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।  
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥४९॥

भावार्थ—जिसकी बुद्धि सर्वत्र अनासक्त है, जिसका अन्तःकरण अपने अधीन है और जिसे कोई इच्छा नहीं है, वह संन्यास के द्वारा परम नैष्कर्म्यसिद्धि (मुक्ति) प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या—जो मुक्ति चाहता हो वह तीन काम करे। (१) स्त्री-पुत्रादि से लेकर सम्पूर्ण संसार से अनासक्त हो जाय। (२) जितात्मा हो—अपनी इन्द्रियों को वश में रखे। परन्तु संसार में अनासक्ति तभी होती है जब उसे मृगतृष्णा के समान मिथ्या समझे। इतने से भी काम न चले तो तीसरा विशेषण दिया जाता है 'विगतस्पृह'। अर्थात् कोई इच्छा न रखे। इनमें से एक लक्षण भी नहीं होगा तो काम नहीं बनेगा। नैष्कर्म्य की प्राप्ति नहीं होगी। इसके पश्चात् संन्यास अर्थात् त्याग भी आवश्यक है। ऐसा होने पर ही स्वरूपस्थिति और नैष्कर्म्य की प्राप्ति हो सकती है। नैष्कर्म्य के साथ परम विशेषण होने से इसे गाढ़ आत्मरति समझना चाहिए। अर्थात् अपने इष्ट के सिवा और कुछ न देखे।

आत्मरति के लिए बुद्धि की अनासक्ति मन का विजय और इच्छा का त्याग ये तीनों आवश्यक हैं। जब तक हम मन, बुद्धि और शरीर का सम्बन्ध नहीं छोड़ेंगे तब तक सर्वत्र असक्तबुद्धि नहीं हो सकते। यह देहतः त्याग है। इसके पश्चात् गेहतः त्याग भी आवश्यक होता है, क्योंकि सबसे असंग होने पर भी अपने प्रति पुत्रादि की आसक्ति तो बनी रहती है। वह पुनः मोह-ग्रस्त कर सकती है। इसी से कहते हैं संन्यासेनाधिगच्छति।' आगे श्लोक ५२ में भी कहेंगे 'वैराग्यं समुपाश्रितः' अर्थात् असंग होने पर भी वैराग्य का आश्रय लिये रहे।

संगति—यहाँ तक प्रवृत्ति मार्ग वालों के लिए बतलाया कि स्वधर्मानुकूल आचरण करते हुए भगवत्प्राप्ति हो सकती है। अब निवृत्ति मार्ग वालों का कर्तव्य बताते हैं—



सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।

समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥५०॥

भावार्थ—हे कौन्तेय! [ अन्तःकरण की शुद्धिरूप ] सिद्धि को प्राप्त हुआ जिस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त होता है वह मुझसे सुनो। तथा जो ज्ञान की परानिष्ठा है उसे भी संक्षेप में जान लो।

व्याख्या—उपर्युक्त दो श्लोकों में जिस अन्तःकरण की शुद्धि रूप सिद्धि का वर्णन है वह विवेक है, क्योंकि आगे ५२ वें श्लोक में 'ध्यानयोगपरो नित्यं' आवेगा। और जब तक विवेक न हो तब तक ध्यान कैसे करेगा।

संगति—अतः अब ध्यान की विधि बतलाते हैं—

बुद्ध्या विशुद्ध्या युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।

शब्दादीन्विषयास्त्यक्त्वा राग-द्वेषौ व्युदस्य च॥५१॥

विविक्तसेवी लब्धाशी यतवाक्कायमानसः।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥५२॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।

विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥५३॥

भावार्थ—विशुद्ध बुद्धि से युक्त अन्तःकरण की वृत्ति को धैर्य से नियम में रखकर शब्दादि विषयों को त्यागकर राग-द्वेष को दूर रखकर जो एकान्त का सेवन करता है, अल्पाहारी है, वाणी, शरीर और मन को वश में रखता है तथा सर्वदा वैराग्य का आश्रय लेकर ध्यानयोग में तत्पर रहता है वह अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और परिग्रह को त्यागकर ममताशून्य तो शान्त भाव से ब्रह्म-पद प्राप्त करने के योग्य हो जाता है।

व्याख्या—जब विषयाकार से रहित होकर वृत्ति निरन्तर ध्येय वस्तु में स्थिर रहे इसका नाम ध्यान है। यही सविकल्प समाधि में परिणत हो जाता है। उसकी जो गाढ़ अवस्था है वही निर्विकल्प समाधि है। और यही योग है। इन दोनों समाधियों में तत्पर



होना ही ध्यानयोगपरायण होना है। किन्तु इसमें बीच-बीच में विघ्न आते हैं। अतः वैराग्यपूर्वक रहने को कहा है। वैराग्य का भी अभिमान न हो इसलिए एकान्त सेवन लघु भोजन और मन, वाणी तथा शरीर को संयमित करने को कहा है; कहा भी है—

**एकान्तवासो लघुभोजनादि मौनं निराशा करणावरोधः।  
मुनेरसोः संयमनं षडेते चित्तप्रसादं जनयन्ति शीघ्रम्॥**

अर्थात्—एकान्त में रहना, अल्पाहार, मौन, कोई आशा न रखना इन्द्रिय-संयम और प्राणायाम ये छः मुनि को शीघ्र ही चित्त प्रसाद की प्राप्ति कराते हैं।

बुद्धि तीन प्रकार की होती है—अशुद्ध—जो पापकर्म और विषय विलास में प्रवृत्त करे। शुद्ध—जो धर्म, कर्म और उपासना में प्रवृत्त करे। विशुद्ध—जो आत्मा-अनात्मा का विवेक करावे और सब ओर से छुड़ाकर अपने लक्ष्य में स्थिर कर दे।

यहाँ ५१ और ५२ वें श्लोकों में निराकार का ध्यान है। शब्दादि का त्याग करने पर निराकार का ही ध्यान होता है। इनका क्रमशः त्याग करने पर जो आनन्द आता है उससे भी असंग होने पर निराकार में स्थिति होती है। इसमें आने वाले विघ्नों के त्याग की आवश्यकता ५३ वें श्लोक में बतायी है।

अहंकारादि दोषों को त्यागने पर चित्त ममता रहित हो जाता है। उससे शान्ति मिलती है और तभी ब्रह्म प्राप्ति की योग्यता आती है। ऐसा होने पर ब्रह्मत्व का अधिकार तो प्राप्त हो जाता है, परन्तु अभी ब्राह्मी स्थिति प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि अभी उसकी दृष्टि में दृश्य की सत्ता बनी हुई है।

यहाँ काम-क्रोधादि तो गिनाये हैं, परन्तु लोभ का उल्लेख नहीं किया, क्योंकि जिज्ञासु में स्वभाव से ही धन या यश का लोभ नहीं होता। उसका लोभ तो अपने लक्ष्य के साक्षात्कार में ही होता है।

**संगति—**ब्रह्म को प्राप्त होने पर उसका स्वभाव कैसा हो जाता है यह बात अगले श्लोक में बतायी जाती है—



ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मदभक्तिं लभते पराम्॥५४॥

भावार्थ—ब्रह्म को प्राप्त हुआ प्रसन्न चित्त पुरुष न तो शोक करता है, न कुछ चाहता है। उसकी सब प्राणियों में समदृष्टि होती है और वह मेरी परा भक्ति प्राप्त करता है।

व्याख्या—श्लोक ५१ से ५३ तक ज्ञान की परानिष्ठा के साधन बतलाये गये हैं। जो अहन्ता-ममता से युक्त था इन साधनों के द्वारा वह उनसे मुक्त हो जाता है। परन्तु अभी जीव भाव ही रहता है। इसे ज्ञान नहीं कह सकते। अभी केवल प्रकृति और पुरुष का विवेक हुआ है। यही सांख्य दर्शन का सिद्धान्त है। यह ब्रह्मभूत कहा जाता है। इस स्थिति में प्रसन्नता को प्राप्त हुआ पुरुष बीती हुई बात के लिए शोच नहीं करता और आने वाली के लिए आकांक्षा नहीं करता। अर्थात् उसे भूत-भविष्यत् का चिन्तन नहीं होता। वह वर्तमान में स्थिर रहता है।

अथवा 'न शोचति न काङ्क्षति' कहकर अन्तःकरण का निषेध किया है। अन्तःकरण से असंग हो जाने के कारण उस में शोक और आकांक्षा का प्रसंग ही नहीं रहता। असह्य कष्ट पड़ने पर भी वह उद्विग्न नहीं होता। किसी के वर-शाप का भी उसे कोई भय नहीं रहता। उसे किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं रहती, क्योंकि वह सभी को मायिक देखता है। उसकी सब वस्तुओं में समबुद्धि हो जाती है क्योंकि वह सबको दृश्यमात्र देखता है। जब ऐसी समबुद्धि होती है तब उसे मेरी पराभक्ति प्राप्त होती है। परन्तु अभी दृश्य में सत्यत्व और आत्माओं का भेद निवृत्त नहीं होता। इसलिए यह ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं आत्मसाक्षात्कार है। यह ब्रह्मभाव है, ब्रह्मज्ञान नहीं। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का उपदेश होने पर जब दृश्य का अत्यन्ताभाव हो जाता है तब ब्रह्मसाक्षात्कार होता है।

प्रश्न—यह श्लोक समवाद का है या ब्रह्मवाद का?



**उत्तर**—समवाद में द्वैत की सत्ता रहती है और ब्रह्मवाद में नहीं रहती। इस श्लोक में द्वैत की सत्ता स्वीकार की है, इसलिए यह समवाद का है। यहाँ तो सांख्यवाद की ही परिपक्व अवस्था बतलाई है। यह पराभक्ति ज्ञान नहीं, ज्ञान का साधन है। तत्त्वज्ञान का स्वरूप तो श्लोक ५५ में कहेंगे। ब्रह्म भूत शब्द से भी यहाँ द्रष्टा का बोध कराया है, जैसा कि योग सूत्र में कहा है—‘तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।’ सांख्य में द्रष्टा की स्वरूप-स्थिति को ही समबुद्धि कहते हैं। भक्ति में ‘सब भगवान्’ इसी को समबुद्धि कहते हैं और ज्ञान में ‘सब मैं हूँ, अन्य सत्ता का अत्यन्ताभाव है’ यह समबुद्धि है।

**संगति**—इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में त्वं पद का शोधन हुआ है और उत्तरार्द्ध में तत्पद का। अब अगले श्लोक में त्वं और तत् पद का एकीकरण करते हैं—

**भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।**

**ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥५५॥**

**भावार्थ**—उस पराभक्ति द्वारा मैं जो और जैसा हूँ इस प्रकार मुझे तत्त्वतः जान लेता है। और फिर मुझे तत्त्वतः जान कर मुझ ही में प्रवेश कर जाता है।

**व्याख्या**—इस श्लोक ‘भक्त्या’ शब्द तृतीयान्त है और तृतीया हेतु अर्थ में होती है। हेतु स्वतन्त्र नहीं होता। इसलिए यह उपासना है। गीता में ‘भक्त्या’ शब्द कई स्थानों में आया है। यहाँ श्लोक ५५ में इसका विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। अध्याय ११ श्लोक ५४ में तो भक्ति के द्वारा ज्ञातुं, द्रष्टुं और प्रवेष्टुं तीन बातें कही हैं। यहाँ ‘अभिजानाति’ का अर्थ है भगवान् के स्वरूप को ठीक-ठीक जान लेना, जानकर साक्षात्कार कर लेना ‘ज्ञात्वा’ से सूचित होता है। और फिर उनमें प्रेम हो जाय, कोई पर्दा न रहे और न अन्य सत्ता रहे, इस प्रकार तद्रूप हो जाना ही ‘विशते’ शब्द से कहा गया है।

पिछले श्लोक में दृश्य की सत्ता रह गयी थी। उसका यहाँ निषेध है। कुछ काल निषेधाकार वृत्ति रहने पर ऐसा अनुभव होगा



कि समष्टि-द्रष्टा और व्यष्टि-द्रष्टा समष्टि शरीर व्यष्टि शरीर—ये सब एक ही द्रष्टा में अध्यस्त है। यही बोध है। इसीलिए कहते हैं कि 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।' अर्थात् तत्त्वज्ञान होने पर फिर किसी प्रकार का भेद नहीं रहता। प्रपञ्च की सत्ता भी नहीं रहती। अतः मैं तू का झगड़ा समाप्त हो जाता है। यह अभेद भक्ति है, इसी के द्वारा मैं जाना जाता हूँ। तब तो यही अनुभव होता है कि चराचर मेरा ही स्वरूप है, सब मैं हूँ और मेरे स्वरूप में अन्य कुछ नहीं है। ऐसा जानकर समष्टि-साक्षी, व्यष्टि-साक्षी, नीचे ऊपर चारों ओर मैं ही हूँ—ऐसा अनुभव होना ही 'विशते तदनन्तरम्' है।

अथवा आभूषणों में सुवर्ण के समान ईश्वर, जीव, जगत् ये सब सच्चिदानन्दस्वरूप है। सुवर्ण से भिन्न जैसे आभूषणों की सत्ता ही नहीं है उसी प्रकार एक सच्चिदानन्द से भिन्न और किसी की सत्ता ही नहीं है। ऐसा जिसको बोध है उसी के लिये 'विशते तदनन्तरम्' कहा है।

जहाँ तक भेद-दृष्टि है वहीं तक बुद्धि है और वहीं तक उपासना है। अभेद दृष्टि तो बुद्धि से आगे की बात है। यही ज्ञान है। अहंकाररहित तदाकारवृत्ति अभेद होने पर होती है और अहंकार सहित तदाकार वृत्ति भेद में होती है। द्रष्टा और दृश्य के संयोग का नाम ही अभिमान है। ज्ञानी की दृष्टि में इनका कभी संयोग नहीं हुआ, अतः उसके लिए दृश्य का अत्यन्ताभाव है।

संगति—यहाँ साधन का प्रकरण समाप्त हो चुका। परन्तु यहाँ कहा है कि मुझे तत्त्व से जानकर मुझमें प्रवेश कर जाता है। इसलिए अगले श्लोक में कनिष्ठ अधिकारी के लिये पुनः तत्त्वज्ञान का साधन बतलाते हैं, क्योंकि विषय अति कठिन है—

**सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्द्व्यपाश्रयः।**

**मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥५६॥**

भावार्थ—जो मेरे आश्रय रहकर सब प्रकार के कर्म भी सदा करता रहता है वह मेरी कृपा से सनातन अविनाशी पद प्राप्त कर लेता है।



संगति—यह श्लोक सगुणपरक है इसी की पुष्टि अगले श्लोक में करते हैं—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।  
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥५७॥

भावार्थ—सब कर्मों को चित्त से मुझे अर्पण करके मेरे परायण हुआ बुद्धि-योग का आश्रय लेकर तू निरन्तर मेरे में ही चित्त लगाने वाला हो जा।

व्याख्या—भक्तों के लिए भगवान् के अतिरिक्त सबको माया समझना अथवा सबको भगवत्स्वरूप समझना तथा निरन्तर भगवदाकार वृत्ति रखना ही बुद्धियोग है। तथा जानियों को श्रवण, मनन, निदिध्यासन करने पर जब निरन्तर आत्माकारा वृत्ति रहती है वह बुद्धियोग है।

जो निष्काम कर्म नहीं कर सकते उनके लिए यहाँ दो शब्द 'मच्चित्तः' और 'मत्परः' कहे गये हैं। अर्थात् विराट या निर्गुण में नहीं मुझ मुरलीधारी कृष्ण में ही चित्त लगाओ। तर्क-वितर्क छोड़कर मेरे परायण हो जाओ इसका फल यह होगा कि तुम मेरे ही स्वरूप हो जाओगे। ऐसा ही श्री तुलसीदास जी ने कहा है—

मम दर्शन फल परम अनूपा।  
जीव पाव निज सहज स्वरूपा॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।  
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥५८॥

भावार्थ—मुझमें चित्त लगाने से तू मेरी कृपा से सब कठिनाइयों को पार कर जायगा और अहंकारवश मेरी बात नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा।

व्याख्या—भगवान् यहाँ निर्देश कर रहे हैं कि संसार-बंधन से मुक्त होने के लिए मेरी कृपा अनिवार्य है। यदि इस बन्धन से छूटने की उत्कण्ठा है तो मुझमें चित्त लगाने की आवश्यकता है। परन्तु मुझमें



चित्त मेरी ही कृपा से लगता है। और यह कृपा उसी पर होती है जो सब कुछ त्यागकर मेरी शरण में आता है। मेरा उपदेश ही मेरी कृपा है। मेरे उपदेश से जब चित्त मुझमें लग जाता है तो ऐसा अनुभव होता है कि यह संसार मेरा ही स्वरूप है। और यही संसार-सागर से तर जाना है। इससे आगे भगवान् कहते हैं कि यदि तू अहंकारवश मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा। अर्थात् तुझे चौरासी लाख योनियों में भटकना पड़ेगा।

गीता में जहाँ भी अस्मद् शब्द का 'माम्' 'मयि' आदि कोई रूप आवे वहाँ अपना इष्ट समझना चाहिए। गीता की यही एक विशेषता है कि भगवान् ने अपने किसी एक रूप का ही उल्लेख नहीं किया।

**यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।**

**मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥**

भावार्थ—यदि तू अहंकार का आश्रय लेकर ऐसा मानता हो कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो तेरा यह निश्चय झूठा है, क्योंकि तेरी प्रकृति तुझे युद्ध में नियुक्त कर देगी।

व्याख्या—यहाँ भगवान् का आशय यह है कि तू क्षत्रिय है, अतः तेरी इच्छा न होने पर भी तेरा स्वभाव तुझे बलात्कार से युद्ध में प्रेरित कर देगा।

**स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।**

**कर्तुनेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥**

भावार्थ—हे कुन्तिनन्दन! अपने स्वाभाविक कर्म से बँधा होने के कारण जो कार्य तू मोहवश नहीं करना चाहता वह तुझे विवश होकर भी करना पड़ेगा।

व्याख्या—मनुष्य अपने पूर्व जन्मों के कर्मानुसार जन्म लेता है और उसी के अनुरूप कर्म करता है। इस प्रकार सब अपने स्वभाव से बँधे हुए हैं। परन्तु यह स्वभाव की प्रधानता अविवेकियों के लिये है। विचारवान् तो स्वभाव को पलट देते हैं—'स्वभावविजयः शौर्यम्'। क्योंकि ज्ञान-द्वारा स्वभाव भी जीत लिया जाता है। योगिजन तो



पाँच-छः शरीर धारण करके पाँच-छः जन्मों का प्रारब्ध एक ही साथ भोग लेते हैं।

**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**

**भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥**

**भावार्थ**—हे अर्जुन! अन्तर्यामी ईश्वर यन्त्ररूप शरीर पर आरूढ़ समस्त प्राणियों को अपनी माया से भ्रमाता हुआ सभी जीवों के हृदय-देश में रहता है।

**व्याख्या**—भगवान् सभी प्राणियों को इसी प्रकार नचा रहे हैं जैसे सूत्रधार कठपुतलियों को नचाता है। परन्तु यह दृष्टान्त एकदेशी है, क्योंकि जीव कठपुतलियों के समान जड़ नहीं है। किन्तु जिस प्रकार न्यायकारी राजा अपने राज्य में ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि वर्णाश्रमों को अपने-अपने धर्मानुकूल चलाता है, किसी को भी कोई अपकर्म नहीं करने देता, उसी प्रकार ईश्वर भी किसी को बुरा काम करने की प्रेरणा नहीं देता। इसी से उसे सूत्रधार बतलाया है। किसी को ऐसी शंका न हो कि अपकर्म भी भगवान् ही कराते हैं, इसीलिये अगले श्लोक में वे भगवान् की शरण में जाने का आदेश देते हैं।

यहाँ उपासना का प्रसंग है, ज्ञान का नहीं। अतः यहाँ भगवद्भजन पर ही जोर दिया गया है, क्योंकि सबके स्वामी और प्रेरक तो भगवान् ही हैं। जिस प्रकार चरख पर चढ़े हुए लोगों को चरखवाला घुमाता रहता है वैसे ही शरीररूप यन्त्र पर चढ़ाकर भगवान् सबको अपनी माया से घुमाते रहते हैं।

**उमा दारु-योषित की नाई। सबहिं नचावत राम गुसाई ॥**

अतः भक्त की दृष्टि किसी के गुण-अवगुण पर नहीं जानी चाहिए। ५९ वें श्लोक में जीव को प्रकृति के अधीन, ६० वें में स्वभाव के अधीन और ६१ वें में ईश्वर के अधीन बताया है। परन्तु इन सबका साक्षी शुद्ध चेतन है।

**संगति**—अब अगले श्लोक में भगवान् उपदेश का उपसंहार करते हैं। यहाँ तक उन्होंने अर्जुन को कर्म, उपासना, ज्ञान, नीति,



वैराग्य अनेकों प्रकार के उपदेश दिये। अर्जुन उन्हें समझ भी गया होगा। परन्तु इतने पर भी न समझा हो तो अब एकमात्र सर्वश्रेष्ठ उपाय शरणागति का उपदेश करते हैं।

**तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।**

**तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥**

**भावार्थ—**हे भारत! तू (अन्य सब आश्रय छोड़कर) सर्वभाव से उस परमात्मा की ही शरण में जा। उसकी कृपा से तू परम शान्ति और नित्य पद प्राप्त करेगा।

**व्याख्या—**एकमात्र भगवान् पर ही भरोसा होना, किसी दूसरे की ओर दृष्टि न ले जाना और दृढ़ विश्वास रखना कि सब कुछ करने-धरने वाले वे ही हैं—यही भक्तों की शरणागति है। तथा भगवान् के साथ अपने को अभिन्न देखना, भगवान् की वस्तु उन्हीं को सौंप देना तथा सारे संसार को अपने से भिन्न मरुमरीचिका के समान असत् देखना—यह विचारवानों की शरणागति है।

यहाँ 'तमेव' से शुद्ध ब्रह्म अर्थ ग्रहण करना चाहिये। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो अगले श्लोक में जो भगवान् कहते हैं कि मैंने तुमसे यह गुह्य से गुह्यतर ज्ञान कहा है उससे विरोध होगा। अतः यह ज्ञान का प्रकरण है। प्रकृति को परमात्मा से भिन्न देखना ही गुह्य ज्ञान है।

**इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।**

**विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥**

**भावार्थ—**इस प्रकार मैंने तुझसे गुह्यसे गुह्यतर ज्ञान कहा है। इस पर पूर्णतया विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर।

**संगति—**इस पर जब अर्जुन से कोई उत्तर नहीं मिला तो भगवान् अगले श्लोक में अत्यन्त रहस्यपूर्ण वचन कहते हैं—

**सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।**

**इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥**



**भावार्थ**—अब तू मेरा जो सबसे गुह्यतम श्रेष्ठ वचन है वह सुन। तू मुझे अत्यन्त प्रिय है, इसलिये तेरे हित की बात कहता हूँ।

**व्याख्या**—भगवान् ने अपना सब गुप्त रहस्य अर्जुन को बता दिया। परन्तु अब वे जो कुछ कहना चाहते हैं वह सबसे गुह्यतम है। अर्थात् इससे अधिक गुह्य और कोई बात नहीं है। ऐसी बात क्यों बता रहे हैं? क्योंकि अर्जुन उन्हें अत्यन्त प्रिय है। उनका अनन्य भक्त और सखा है। अतः उन्हें जो बात सब से प्रिय है वह बता रहे हैं।

**‘मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।**

**मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥६५॥**

**भावार्थ**—तू मुझमें मन लगा। मेरा भक्त हो। मेरा पूजन कर और मुझे ही नमस्कार कर। इससे तू मुझे ही प्राप्त होगा। मैं सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, क्योंकि तू मेरा प्यारा है।

**व्याख्या**—यहाँ भगवान् अपनी प्राप्ति का उपाय बता रहे हैं कि यदि तुझे ज्ञान हो गया है ‘मन्मना भव’—आत्मरति कर। और यदि ज्ञान नहीं हुआ तो मेरा भक्त हो जा और मेरी ही पूजा कर। यदि यह भी न हो सके तो मुझे नमस्कार कर लिया कर। अथवा इसका यह भी आशय हो सकता है कि ध्यान का अधिकारी ब्राह्मण है, भक्ति का अधिकारी क्षत्रिय है, यज्ञ का अधिकारी वैश्य है तथा नमस्कार या जप के अधिकारी सभी हैं, क्योंकि यह तो सामान्य धर्म है। अथवा उत्तम अधिकारी ध्यान करे, मध्यम भक्ति करे, कनिष्ठ यज्ञ करे और कनिष्ठतर जप एवं नमस्कार करे। इसकी पुष्टि भगवान् अध्याय ९ श्लोक ३४ में, अध्याय १२ श्लोक ८ से ११ में और अध्याय १३ श्लोक २४-२५ में कर आये हैं।

जप सभी कर सकते हैं, यह सामान्य धर्म है। जप के बिना पापों का नाश नहीं होता। पाप नष्ट हुए बिना उपासना नहीं होती। उपासना के बिना वैराग्य नहीं होता, वैराग्य बिना विचार नहीं होता और विचार के बिना ज्ञान नहीं होता। ज्ञान के बिना शान्ति नहीं मिलती और ज्ञानाभ्यास के बिना ज्ञाननिष्ठा नहीं होती। अर्थात् जीवन्मुक्ति



का विलक्षण सुख नहीं मिलता। इस श्लोक में भगवान् ने चार-पाँच प्रकार से अर्जुन को समझाया है कि ऐसा करते हुए तू अवश्य मुझे प्राप्त कर लेगा यह भगवान् का फैसला है।

**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।**

**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥६६॥**

**भावार्थ—**तू सम्पूर्ण धर्मों का आश्रय छोड़कर एक मेरी ही शरण में आजा। मैं तुझे सब पापों से छुड़ा दूँगा। तू शोक न कर।

**व्याख्या—प्रश्न—**गीता का प्रारम्भ 'अशोचयानन्वशोचस्त्वम्' से हुआ है और इसकी समाप्ति 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' आदि में हुई है। इस प्रकार उपक्रम तो ज्ञान से हुआ और उपसंहार भक्ति में किया गया। इसका क्या कारण है?

**उत्तर—**भगवान् अर्जुन को उपदेश करते रहे और अर्जुन सुनता रहा। इससे भगवान् को यह सन्देह हुआ कि अर्जुन को ज्ञान हुआ या नहीं। इसी से उन्होंने कहा कि यदि तुझे ज्ञान हो गया तब तो तेरे कल्याण में कोई सन्देह है नहीं। और यदि ज्ञान नहीं हुआ तो तू मेरी शरण में आजा फिर भक्ति के द्वारा तुझे ज्ञान हो जायगा। इस प्रकार ज्ञान का उपदेश करके भगवान् ने उसका साधन बताया है तथा इस शंका से मुक्त कर दिया है कि युद्ध करने से तुझे कोई पाप लगेगा।

**प्रश्न—धर्म क्या है?**

**उत्तर—**धर्म का कोई विशेष रूप नहीं है। शुभ कार्य ही धर्म कहे जाते हैं। इसी से कर्मफल-त्याग का उपदेश किया है। यही सब धर्मों का त्याग है। सर्व-धर्म-त्याग वही कर सकता है जो भगवान् के शरणापन्न हो जाय।

**प्रश्न—**भगवान् तो अन्तर्यामी हैं। क्या वे नहीं जानते थे कि अर्जुन को ज्ञान हुआ है या नहीं?

**उत्तर—**भगवान् तो अन्तर्यामी हैं, परन्तु बोधवान् के अन्तःकरण ही नहीं होता, तब जानेंगे क्या।



इस श्लोक में शरणागति की प्रधानता है और धर्मों की गौणता, क्योंकि धर्मों का सर्वथा त्याग तो हो नहीं सकता। अतः शास्त्रकार का आशय यही है कि धर्मों का आश्रय छोड़ भगवान् का आश्रय लिया जाय।

**संगति**—अब गीता का उपदेश समाप्त करके यह बताते हैं कि इसके श्रवण का अधिकारी कौन है।

**इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।**

**न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥६७॥**

**भावार्थ**—यह गुह्य ज्ञान तुम्हें किसी ऐसे पुरुष को कभी नहीं सुनाना चाहिये जो तपस्वी न हो, भक्त न हो, गुरु सेवा न करता हो और मेरी निन्दा करता हो।

**व्याख्या**—उपदेश करते समय तो सभी शिष्य सुनते हैं। परन्तु उपदेश को ग्रहण करने वाले केवल गुरुभक्त, गुरुसेवक या वैराग्यवान् ही होते हैं। इसलिए भगवान् कहते हैं कि जिसमें अहिंसा आदि तप नहीं हैं, जो मन, वाणी और शरीर के तप से सम्पन्न नहीं है, जो भलीभाँति धर्म का पालन नहीं करता, वह गीता के ज्ञान का अधिकारी नहीं है। फिर कहते हैं कि वह सगुण-भक्त भी हो, परन्तु गुरुभक्त या शास्त्र श्रवण में श्रद्धा रखने वाला न हो, तो उससे भी यह ज्ञान न कहे। अथवा जो गुरुभक्त तो हो परन्तु गुरुसेवा न करता हो, भगवान् का भक्त हो परन्तु भगवद्भक्तों की सेवा न करता हो, उसे भी यह उपदेश न सुनावे।

अथवा कोई तपस्वी और भक्त तो है, परन्तु सुनने की इच्छा नहीं रखता, जिज्ञासु नहीं है उसे भी यह ज्ञान न सुनावे। अन्त में कहते हैं कि भले ही ऊपर कहे हुए लोगों को सुना दे, किन्तु जो भगवान्, भगवद्भक्त और महापुरुषों की निन्दा करता हो उसे तो कभी न सुनावे।

अतः गीता सुनने के अधिकारी में चार लक्षण होने चाहिए (१) तपस्वी, (२) भक्त, (३) गुरुभक्त या जिज्ञासु अर्थात् सुनने की



प्रबल इच्छा वाला (४) असूयारहित अर्थात् गुणों में दोषदृष्टि न करने वाला, परनिन्दा से बचने वाला। जिसमें ये गुण हों उसी को इसका उपदेश करना चाहिए।

संगति—अब गीता का उपदेश करने वालों की प्रशंसा करते हैं।

य इमं परमं गुह्यं मदभक्तेष्वभिधास्यति।

भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥६८॥

भावार्थ—जो मेरे इस अत्यन्त गुह्य रहस्य को मेरे भक्तों के प्रति कहेगा वह निश्चय ही मुझमें परम भक्ति करके मुझ ही को प्राप्त होगा।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।

भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥६९॥

भावार्थ—मनुष्यों में उससे अधिक मेरा प्रिय करने वाला और कोई नहीं है। और न मुझे उससे अधिक प्यारा ही संसार में कोई होगा।

व्याख्या—गीता के उपदेशक में उपदेश करते समय स्वार्थ-बुद्धि नहीं होनी चाहिये। तथा श्रोता में भी उपर्युक्त चार दोष नहीं होने चाहिए। वह भगवान्, गीता और वक्ता में श्रद्धा रखे तथा सत्पुरुषों में दोषदृष्टि न करे।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।

ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥७०॥

भावार्थ—जो पुरुष हम दोनों के इस धर्ममय संवाद का अध्ययन करेगा उसके द्वारा मानो ज्ञानयज्ञ से मेरा पूजन किया जायगा—ऐसा मेरा मत है।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।

सोऽपि मुक्तः शुभाल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥७१॥

भावार्थ—जो श्रद्धवान् और अदोषदर्शी पुरुष इस ग्रन्थ का श्रवण-मात्र भी करेगा, वह भी संसार से मुक्त होकर पुण्यकर्मा पुरुषों के शुभ लोकों को प्राप्त होगा।



कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।

कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय॥७२॥

भावार्थ—हे पार्थ! क्या तुमने मेरा यह उपदेश एकाग्र चित्त से सुना। और हे धनञ्जय! क्या तुम्हारा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया।

व्याख्या—इस श्लोक से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान प्राप्ति के लिए निरुद्धावस्था की आवश्यकता नहीं है, केवल एकाग्रता होनी चाहिये। और एकाग्रता के लिये पूर्ण जिज्ञासा आवश्यक है। इसीलिये भगवान् ने यह प्रश्न किया है कि तुमने मेरा उपदेश एकाग्रता से सुना और क्या तुम्हारा मोह नष्ट हो गया। यही बात अध्याय २ के ५४ वें श्लोक में किये गये समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ के विषय के अर्जुन के प्रश्न से भी व्यक्त होती है कि स्थितप्रज्ञ असमाधिस्थ भी होता है।

अर्जुन पहले और दूसरे अध्याय में स्वजनों को मारने में पाप और पूज्य गुरुजनों के विरुद्ध खड़े होकर युद्ध करने में अपनी असमर्थता व्यक्त कर चुका था। अध्याय १ के श्लोक ४५ और अध्याय २ के श्लोक ४ में उसने स्पष्टतया युद्ध न करने की बात कही है। जब भगवान् ने उसकी एक-एक शंका का समाधान कर दिया तो अगले श्लोक में वह स्वयं स्वीकार करता है कि मेरा मोह नष्ट हो गया, मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥७३॥

भावार्थ—अर्जुन बोला—अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे स्मृति प्राप्त हो गयी। अब मैं संशयशून्य होकर स्थित हूँ, अतः आपके वचनों का पालन करूँगा।

व्याख्या—यहाँ 'नष्टो मोहः' और 'गतसन्देहः' दो विशेषण आये हैं। जब तक किसी भी प्रकार का सन्देह या अज्ञान का कार्य मोह शेष है तब तक सिद्धावस्था नहीं हो सकती। अतः अर्जुन के इन शब्दों



से मालूम होता है कि उसे सिद्धावस्था प्राप्त हो गयी है और उसे स्मृति अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति भी प्राप्त हो गयी है।

प्रश्न—आत्माकार वृत्ति और ब्रह्माकार वृत्ति में क्या अन्तर है। और 'स्मृति' शब्द से यहाँ क्या तात्पर्य है।

उत्तर—जो लोग दृश्य से अपने को भिन्न मानते हैं वे वास्तव में तत्त्वज्ञ नहीं हैं। वे असंगता का अनुभव नहीं करते, केवल असंगता का चिन्तन करते हैं। वे दृश्य की सत्ता भी स्वीकार करते हैं और अपने को भी कुछ माने हुए हैं। असली असंगता तो यह है कि दृश्य की कोई सत्ता ही नहीं है, वह केवल प्रतीतिमात्र है। सम्पूर्ण दृश्य का अधिष्ठान अपना स्वरूप ही है और वही एकमात्र सत्ता है। इसी को आत्माकार वृत्ति कहते हैं।

यह तो हुई आत्माकार वृत्ति की बात। ब्रह्माकार वृत्ति में अपने से भिन्न देखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि दृश्य अलग तो है ही—यह बात पहले ही निश्चित हो चुकी है। उस के अत्यन्ताभाव देखने की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जो वस्तु आकाश में प्रतीत होती है उसका कोई आधार नहीं होता, इसलिए वास्तव में वह है नहीं। अतः असंगता का चिन्तन और प्रपञ्च अत्यन्ताभाव देखना भी ब्रह्माकार वृत्ति का उत्तम अभ्यास नहीं है। उत्तम अभ्यास तो स्मृतिमात्र है। अर्थात् वस्तुमात्र को देखते समय हमारी दृष्टि ज्ञप्तिमात्र पर रहे। इस अवस्था में दृश्य की ठीक-ठीक प्रतीति होती है तथा जिसे इदं-रूप से नहीं देख सकते उस शुद्ध सत्ता का भी अनुभव होता है। यही स्मृतिमात्र ब्रह्माकार वृत्ति है। इसी का विशेष महत्त्व है, ज्ञान का नहीं, क्योंकि यहाँ 'स्मृतिर्लब्धा' कहा है 'ज्ञानं लब्धं' नहीं कहा। इसका विशेष महत्त्व इसलिए है कि यह खाते-पीते, चलते-फिरते हर समय रह सकती है। जैसा कि कहा भी है—

निमिषार्द्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं बिना।

यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्याः सनकाद्याः शुकादयः॥



अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्मादि सनकादि और शुकादि सब कुछ करते हुए भी निरन्तर ब्रह्माकार वृत्ति में स्थित रहते हैं उसी प्रकार तत्त्ववेत्ता आधे पल भी ब्रह्माकार वृत्ति के बिना नहीं रहते। इसका तात्पर्य यह है कि बोध हो जाने पर निरन्तर स्वरूपस्मृति बनी रहती है, जैसे कि याद न करने पर भी अपनी जाति या नाम का स्मरण रहता है। कोई पूछता है तो तुरन्त बता देते हैं, याद नहीं करना पड़ता। जो बादशाह से एक बार भी हाथ मिला लेता है वह जन्मभर उसे नहीं भूलता।

अथवा यह नियम है कि अहंवृत्ति के बिना इदंवृत्ति नहीं होती। और अहं ही स्वस्वरूप है। परन्तु अहन्ता तीन प्रकार की होती है—शरीर में, चिदाभास में और शुद्ध सत्ता में। जिस प्रकार सारा स्वप्न-प्रपञ्च स्वप्नद्रष्टा से भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार सम्पूर्ण दृश्य स्वस्वरूप ही है। अतः जो भी अहंवृत्ति या इदंवृत्ति होती है तत्त्वतः वह ब्रह्माकार वृत्ति ही है। यह वृत्ति मनुष्य ही नहीं कीट-पतंगादि को भी होती है, परन्तु उनको इसका अनुभव नहीं है। परन्तु बोधवान् तो सब कुछ अपना-आप देखता है। नेत्र से रूप देखने के समान इसमें उसे प्रयास नहीं करना पड़ता। उसका मन जहाँ-जहाँ भी जाता है वहीं-वहीं उसे समाधि है। ऐसी स्थिति होने पर उसे कुछ कर्तव्य नहीं रहता है। यह उसकी सहज समाधि है।

**प्रश्न**—आपने जो कहा कि आत्मदर्शन अत्यन्त सुगम है, सो किस प्रकार? आत्मचिन्तन का वह सुगम उपाय क्या है?

**उत्तर**—पहले असंग-भावना करनी चाहिये। इसमें निष्ठा हो जाने पर चराचर जगत् की उपेक्षा कर देने से हर समय आत्म-चिन्तन स्वाभाविक हो जायगा। कोई कष्ट नहीं करना पड़ेगा। परन्तु यह स्थिति होती तभी है जब अपने-आप में प्रेम हो। अपने में प्रेम होना बड़ा कठिन है, क्योंकि चित्त जगह-जगह बँटा हुआ है। अतः दूसरों में तो आसक्ति हो जाती है किन्तु आत्मरति नहीं होती। सब इस शरीर को



ही हृष्टपुष्ट चाहते हैं अथवा स्त्री-पुत्रादि के लालन-पालन में लगे हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि अधिकतर लोगों की आसक्ति अनात्मा में ही है। अतः जब सब ओर से हटकर आत्मा में ही प्रेम हो तब समझो कि अब मेरा पुण्योदय हुआ, अब अवश्य कल्याण हो जायगा।

यह तो निश्चय ही है कि सम्पूर्ण प्रपञ्च आकाश के अन्तर्गत है। और जो वस्तु आकाश में होती है वह वस्तुतः होती नहीं क्योंकि उसके निमित्त और उपादान कारण का अत्यन्ताभाव है। आत्मा में एक शक्ति-वृत्ति होती है। वही सम्पूर्ण प्रपञ्च को विषय करती है। जितने भाव-पदार्थ हैं वे अभाव के अन्तर्गत हैं। इसलिए पहले वह वृत्ति अभाव को ग्रहण करती है और फिर अभावाकार होकर अन्य पदार्थों को अनुभव करती है। इस प्रकार अभाव वृत्ति भाव-पदार्थों की साक्षी है और आत्मा अभाव-वृत्ति का साक्षी है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा सम्पूर्ण पदार्थों से असंग है। अभाव-वृत्ति के साथ तादात्म्य को प्राप्त होने से ही उसे अन्य पदार्थों की प्रतीति होती है। विवेक की दृढ़ता हो जाने पर सम्पूर्ण प्रपञ्च से असंगता का अनुभव होने लगे तो फिर समस्त प्रतीतियों की उपेक्षा करके वृत्तिसाक्षीरूप से अनुभव करने पर उसे अपना साक्षात् अनुभव होने लगता है। यही आत्मचिन्तन का सबसे सहज उपाय है। इस प्रकार आत्मचिन्तन के इच्छुक पुरुष को चाहिये कि वह प्रतीति मात्र को आकाश-कुसुम के समान समझे और उसकी उपेक्षा करके स्वयं वृत्ति-साक्षी होकर स्थित रहे।

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।

संवादमिममश्रौषमद्भुतं

रोमहर्षणम् ॥७४॥

भावार्थ— सञ्जय बोला—इस प्रकार मैंने वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण और पृथा-पुत्र महात्मा अर्जुन का यह अद्भुत और रोमाञ्चकारी संवाद सुना।



व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।

योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥७५॥

भावार्थ—मैंने भगवान् व्यासदेव की कृपा से यह परम गुह्य योग सुना है, जो स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण ने ही कहा है।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।

केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्महुः॥७६॥

भावार्थ—राजन्! श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस पवित्र संवाद को स्मरण कर-करके मैं पुनः-पुनः हर्षित हो उठता हूँ।

व्याख्या—इस संवाद के श्रवण और मनन से पुण्य होता है, इसलिये यह पुण्यरूप है। इसी से अनजाने में किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं, इसलिए यह अद्भुत है। इसी से सञ्जय ने कहा है कि इसे स्मरण कर-करके मैं हर्षित हो जाता हूँ।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।

विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः॥७७॥

भावार्थ—राजन्! श्रीहरि के उस अद्भुत विराटरूप का स्मरण कर-करके तो मुझे बड़ा विस्मय होता है और मैं पुनः-पुनः हर्षित हो जाता हूँ।

व्याख्या—जब अर्जुन को अपनी अज्ञानावस्था का विचार होता है कि बोध होने से पूर्व मैं क्या था और अब क्या हो गया तो उसे बड़ा आश्चर्य होता है। उस अज्ञान की निवृत्ति में भगवान् का विराट् रूप भी सहायक हुआ था। उसी विराट् रूप और भगवान् की अद्भुत शक्ति ने सञ्जय को भी विस्मय में डाल दिया।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥७८॥

भावार्थ—जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धारी अर्जुन है वहाँ श्री, विजय, वैभव और नीति सर्वदा रहती हैं—ऐसा मेरा मत है।



**व्याख्या—**जहाँ 'योगेश्वर' जिनके अधीन विद्या-अविद्या एवं ज्ञान-अज्ञान सभी हैं, अथवा जो कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग सभी प्रदान कर सकते हैं, जिनकी कृपा से जीव और ईश्वर का भेद भी निवृत्त हो जाता है, ऐसे श्रीकृष्ण और उनका अनन्य भक्त अर्जुन है वहाँ लक्ष्मी, विजय, विभूति, नीति सभी अविचल होकर रहती हैं। ऐसा मेरा मत है। सञ्जय का यह मत ही शास्त्र का सिद्धान्त है। जहाँ भक्त और भगवान् हैं वहाँ क्या नहीं है?

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां

योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे

मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः॥१८॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु





## हमारे प्रकाशन

१. हमारे श्रीमहाराजजी—यह ब्रह्मलीन पूज्यपाद श्री उड़िया बाबा जी महाराज का जीवन-चरित्र है। महापुरुषों के जीवन में साधकों को अपने जीवन-निर्माण की दिशा मिलती है। श्री महाराजजी का जीवन इस दृष्टि से बहुत उपयोगी है। उनमें किस प्रकार मानव जीवन के चरम लक्ष्य का आविर्भाव हुआ, यह कुशल लेखक ने बड़ी सजीव भाषा में व्यक्त किया है। इतना सफल चरित्र-चित्रण शायद ही किसी जीवन-चरित्र में हुआ होगा। डिमाई साइज की करीब छः सौ पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक में तीन तिरंगे और तीन सादे चित्र भी हैं।
२. श्री उड़िया बाबाजी के उपदेश—श्री महाराजजी समय-समय पर साधकों को जो उपदेश देते थे उनमें से जो वाक्य अधिक प्रभावशाली होते थे उन्हें साधक लोग नोट कर लेते थे। यह उन्हीं का संग्रह है। इसमें आचार, उपासना और ज्ञान तीन खण्ड हैं। अतः यह सभी प्रकार के साधकों के लिए उपयोगी है। यह पुस्तक पाँच सौ पृष्ठों की है।
३. श्री उड़िया बाबाजी के संस्मरण-प्रथम खण्ड—  
श्री महाराजजी के सान्निध्य में रहे लगभग १०० सन्त, भक्तों के तथ्यपूर्ण अनुभव लगभग चार सौ पृष्ठों में। आकर्षक जिल्द सहित।
४. श्री उड़िया बाबाजी के संस्मरण-द्वितीय खण्ड —  
श्री महाराजजी के सान्निध्य में रहे लगभग ८० सन्त, भक्तों के तथ्यपूर्ण अनुभव लगभग चार सौ पृष्ठों में। आकर्षक जिल्द सहित।

---

पुस्तक प्राप्ति स्थान :-

श्रीकृष्णाश्रम,  
दावानल कुण्ड, वृन्दावन (मथुरा)